मेघविजयोपाध्यायविरचित

देवानन्दमहाकाव्य

टिप्पणी-आदि समलंकृत तथा ग्रन्थकार-परिचय,

सरल हिंदी सारार्थ आदि समन्वित

सम्पादक

पं० बेचरदास जीवराज दोशी ।

[जैनन्याय-व्याकरणतीर्थ; भूतपूर्व प्राकृतसाहित्याध्यापक गूजरातपुरातत्त्वमन्दिर;

भगवतीसूत्रादि अनेकागमग्रन्थानुवादक–संशोधक–सम्पादक–इत्यादि]

प्रकाशन-कर्ता

संचालक - सिंघी जैन ग्रन्थमाला

अहमदाबाद - कलकत्ता

विक्रमाब्द १९९४] प्रथमावृत्ति, पञ्चशत प्रति । [१९३७ ख्रिस्ताब्द

SINGHI JAINA SERIES

A COLLECTION OF CRITICAL EDITIONS OF MOST IMPORTANT CANONICAL, PHILOSOPHICAL HISTORICAL, LITERARY, NARRATIVE ETC WORKS OF JAINA LITERATURE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAMŚA AND OLD VERNACULAR LANGUAGES, AND STUDIES BY COMPETENT RESEARCH SCHOLARS.

FOUNDED AND PUBLISHED
BY

ŚRĪMĀN BAHĀDUR SIṄGHJĪ SIṄGHĪ OF CALCUTTA

IN MEMORY OF HIS LATE FATHER

ŚRĪ DĀLCHANDJĪ SIṄGHĪ.



GENERAL EDITOR

JINA VIJAYA MUNI

HONORARY MEMBER OF THE BHANDARKAR ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE OF POONA AND GUJRAT SAHITYA SABHA OF AHMEDABAD; FORMERLY PRINCIPAL OF GUJRAT PURATATTVAMANDIR OF AHMEDABAD; EDITOR OF MANY SANSKRIT, PRAKRIT, PALI, APABHRAMŚA, AND OLD GUJRATI WORKS.

NUMBER 7

TO BE HAD FROM

VYAVASTHĀPAKA, SIṄGHĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

ANEKANT-VIHAR
9, SHANTI NAGAR,
PO. SABARMATI, AHMEDABAD.



SIṄGHI SADAN
48, GARIYAHAT ROAD
BALLYGUNGE, CALCUTTA

Founded]

[1931 A. D.

DEVĀNANDA MAHĀKĀVYA

OF

ŚRÎ MEGHAVIJAYOPĀDHYĀYA

CRITICALY EDITED IN THE ORIGINAL SANSKRIT FROM AN OLD MSS. WITH NOTES, INDEX AND HINDI INTRODUCTION, SUMMARY ETC.

BY

PANDIT BECHARDĀS J. DOSHI

JAINA NYĀYA-VYĀKARAṆA TÎRTHA; LATE TEACHER IN PRĀKRIT, PURĀTATTVA MANDIR; TRANSLATOR AND EDITOR OF BHAGAVATI SÛTRA AND MANY OTHER CANONICAL WORKS



PUBLISHED BY

THE SAÑCHĀLAKA-SIṄGHĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

AHMEDABAD-CALCUTTA

V. E. 1994] *First edition, Five Hundred Copies.* [1937 A. D.

DEVĀNANDA MAHĀKĀVYA

OF

ŚRÎ MEGHAVIJAYOPĀDHYĀYA

CRITICALY EDITED IN THE ORIGINAL SANSKRIT FROM AN OLD MSS. WITH NOTES, INDEX AND HINDI INTRODUCTION, SUMMARY ETC.

BY

PANDIT BECHARDĀS J. DOSHI

JAINA NYĀYA-VYĀKARAṆA TÎRTHA; LATE TEACHER IN PRĀKRIT, PURĀTATTVA MANDIR; TRANSLATOR AND EDITOR OF BHAGAVATI SÛTRA AND MANY OTHER CANONICAL WORKS



PUBLISHED BY

THE SAÑCHĀLAKA-SIṄGHĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

AHMEDABAD-CALCUTTA

V. E. 1994] *First edition, Five Hundred Copies.* [1937 A. D.

देवानन्दमहाकाव्य-विषयानुक्रम ।



देवानन्दमहाकाव्य-विषयानुक्रम ।



किंचित् प्रास्ताविक

जिन विजयदेव सूरिका काव्यमय चरित-वर्णन प्रस्तुत देवानन्द महाकाव्यमें किया गया है, वे सूरि जैनधर्मके बहुत अच्छे प्रभावक पुरुषोंमेंसे एक हो गये हैं। एक प्रकारसे जैन समाजके ये अन्तिम समर्थ और तेजस्वी आचार्य थे। इनके बाद आज तक वैसा कोई प्रभावशाली, प्रतापवान् और प्रतिभापूर्ण आचार्य नहीं हुआ। जिस प्रकार मुगल सम्राटोंमें अकबर, जहांगीर और शाहजहाँ ये तीनों सम्राट् भारतवर्षके गौरवके उत्कर्षक हुए उसी प्रकार, जैनाचार्यों में भी हीरविजय सूरि, विजयसेन सूरि और विजयदेव सूरि ये तिनों आचार्य जैन समाजके गौरवके उत्कर्षक हुए। इन तीनों आचार्योंका मुगल सम्राटोंने खूब सत्कार किया था और इनके ज्ञान और चारित्रसे प्रभावान्वित हो कर म्लेच्छ कहे जानेवाले उन अनार्य सम्राटोंने भी जैन धर्मके प्रति अपना ऊंचा आदरभाव व्यक्त किया था।

उन मुगल सम्राटोंकी तरह इन जैनाचार्योंका इतिहास भी बडा विस्तृत और महत्त्ववाला है। ये आचार्य भी, अपने समाजके एक प्रकारके सम्राट् थे। सम्राटोंकी ही तरह इनकी आज्ञा भी, जैन समाजके धार्मिक विधानोंमें, अनुल्लंघनीय समझी जाती थी। सम्राटों-ही-की तरह जैन समाजमें इनका शासनतंत्र चलता था। जिस तरह, सम्राट् अपने साम्राज्यकी रक्षा और वृद्धिके प्रयत्नमें आजन्म तल्लीन रहते थे और भारतवर्षके इस कोनेसे उस कोनेतक घूमते रहकर अपने शासनकी सुव्यवस्थामें व्यस्त रहते थे उसी तरह ये आचार्य भी जैन धर्म और जैन संघकी रक्षा और वृद्धिके प्रयत्नमें आजन्म दत्त-चित्त रहते थे और जहां जहां इनके अनुयायी जन-गण और धर्म-स्थान होते थे वहां वहां ये सतत परिभ्रमण करते रहते और अपने शासनकी सुव्यवस्थामें लगे रहते थे। यद्यपि ये आचार्य बडे निरीह, निष्परिग्रही, तपस्वी, आत्मदर्शी और जितेन्द्रिय थे – कंचन और कामिनीसे सर्वथा अलिप्त थे – तथापि अपने धर्म और समाजकी उन्नति और प्रतिष्ठाके निमित्त ये राजा-महाराजाओं और सम्राटोंके दरबारोंमें उपस्थित होते थे, अपने शिष्योंको उनकी इच्छानुसार उनके हितोंमें प्रवृत्त करते थे और उनके सुख-दुःखोंमें समवेदना और सहानुभूति भी प्रकट करते थे। और उसके बदलेमें, ये और कुछ न चाह कर सिर्फ भूतदया, प्राणीरक्षा और अहिंसाका उनसे प्रचार और पालन करवाते थे; अधर्मी और अत्याचारी द्वारा सताये जानेवाले प्रजाजनों और धर्मनिष्ठ मनुष्योंकी रक्षा करवाते थे और आत्मकल्याण करनेके साधनभूत धर्मस्थानोंकी पूजा और पवित्रताका सुप्रबन्ध करवाते थे।

न ये किसी प्रकारकी सवारी पर चढते थे, न किसी पर अपना बोज लादते थे। न किसीके यहां भोजनका भार डलवाते न किसीके घर पर जा कर मान-पान करवाते। चाहे सियाला हो चाहे उन्हाला – ये नंगे सिर और नंगे पैर ही सदा घूमते फिरते। चौमासेके ४ महिने ये एक जगह स्थिरवास करके रहते और फिर आठ महिने इधर-उधर परिभ्रमण करते रहते। कभी ये दक्खिनमें हैदराबाद और उससे आगे तक चले जाते और फिर वहांसे उत्तरमें लाहोर और उससे भी आगे तक पहुंच जाते; कभी पच्छिममें ठेठ समुद्रके किनारे दीवबन्दर तक चले जाते और कभी पूर्वमें पटना और उससे भी परे पार्श्वनाथपहाड (सम्मेतसिखर) तक सफर कर आते। भिक्षाके समय, हाथमें झोली ले कर, गृहस्थके घर अज्ञात रूपसे जा पहुंचते और धर्मलाभका आशीर्वाद दे कर, अपने उचित लूखा-सूका जैसा आहार मिल गया, उसे ले कर अपने मकान पर चले आते और एकान्तमें बैठ कर बिना किसी प्रकारके आस्वादका उपभोग करते हुए, उसे निगल जाते। पानी ये हमेशा गरम किया हुआ पीते। सूर्यास्तके बाद न कभी कुछ खाते न कभी कुछ पीते। रातको कोरी जमीनपर एक पिछोडी बिछा कर सो जाते। न धूलकी पर्वाह करते न पत्थर-कंकड की। न सख्त गर्मीमें कभी पंखा हिलाते और न सख्त सर्दीमें कभी आग सुलगाते। बडे बडे धन-कुबेर इनके दृढ उपासक थे–पक्के भक्त थे: इनके एक एक शब्द पर लाख

रूपये न्यौछावर कर देते थे; पर ये अपने लिये किसीसे कभी कुछ एक कौडी भी नहीं मांगते थे। स्वर्गकी अप्सरायें जैसी रूपवती और लक्ष्मीवती हजारों स्त्रियां प्रतिदिन इनके सामने १०-१० वार ऊठबैठ कर नमन करती और बैठों हाथजोडे बैठकर इनका धर्मोपदेश सुनती; लेकिन निमेषमात्र भी इनकी आँखमें, कभी किसी प्रकारके विकारकी, कोई रक्तिमा उद्भूत नहीं होती थी। ऐसी तो इनकी चर्या थी; और ऊपर बतलाया वैसा इनका उदात्त ध्येय था। साधुताका यह परम आदर्श था।

प्रस्तावित काव्यके नायक विजयदेव सूरिके प्रगुरु आचार्य हीरविजय सूरिकी ऐसी परम साधुताका हाल सुनकर अकबर बादशाहने बडे आदरके साथ उन्हें अपने दरबार-फतहपुर सीकरीमे बुलवाये। सूरिकी प्रशान्त मूर्ति, भव्य आकृति, उत्कृष्ट विरक्ति और अमृतोपम वाणीका अनुपम अनुभव कर वह महान् मुगल सम्राट् अत्यंत प्रमुदित हुआ। अकबर जैसा उत्कट जिज्ञासु था, परीक्षक भी वैसा ही उत्कट था। उसकी परीक्षामे उत्तीर्ण होना आसान नहीं था। बडे बडे धुरन्धर विद्वान् और त्यागी-वैरागी उसकी कठोर परीक्षामें निष्फल हो जाते थे और उसके तेजमे वे अपना अस्तित्व लुप्त कर या तो उसके सेवक बन जाते थे या उसके शिष्य हो रहते थे। एक ही नजरमे वह अपने सन्मुख आनेवाली व्यक्तिका हीर परख लेता था और एक-ही-दो शब्दोंमें वह उसका मूल्य भी कर देता था। अपने समकालीन संसारका वह सबसे श्रेष्ठ चतुर और तेजस्वी पुरुष था। हीरविजय सूरिकी साधुताकी उसने यथेष्ट परीक्षा की ओर उसमे वे सोलह आने संपूर्ण सफल निकले, तब उसने उनको अपना परम पूज्य हितोपदेशक माना और 'जगद्गुरु' की पदवी देकर उनका उत्कृष्ट सम्मान किया। कोई ३-४ वर्ष हीरविजय सूरि फतहपुर सीकरी और आगरेके आसपास घूमते रहे और वारंवार अकबरको अपना धर्मोपदेश सुनाते रहे। बादशाहने उनके उपदेशसे स्वयं मांसभक्षण आदि बहुत कम कर दिया और पशु-पक्षियोंका शिकार करना भी बहुत कुछ छोड दिया। जैनधर्ममें परम पवित्र माने जानेवाले पर्युषणा पर्वके ८-१० दिन तक सारे ही साम्राज्यमें किसी भी प्राणीकी कोई कतल न की जाय ऐसी बादशाही आज्ञा भी जाहीर की गई। जैनधर्मके पवित्र स्थानोंको कोई किसी प्रकारकी हानि न पहुंचावे इसके लिये भी कई फरमान उसने निकाले और उन्हें हीरविजय सूरिके स्वाधीन किये। बादमें वृद्धावस्थाके कारण सूरिजी तो गूजरातमे वापस चले आये, लेकिन बादशाहकी इच्छासे अपने विद्वान् शिष्य उपाध्याय शान्तिचन्द्रजीको उसके दरबारमें रख आये। पीछे से भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र, विवेकहर्ष आदि और भी सूरिजीके प्रभावशाली शिष्य वारंवार अकबरी दरबारमे आने-जाने और रहने लगे। यह सब इतिहास बहुत बडा है और उसका विशेष वर्णन करना यहांपर आवश्यक भी नहीं है।

हीरविजय सूरिके गूजरातमें चले आने बाद, पीछेसे बादशाहने, उनके पट्टधर आचार्य विजयसेन सूरिको भी अपने दरबारमें, जब वह लाहोरमें था, बुलवाये और उनका भी उसने यथेष्ट सम्मान किया और उन्हें 'सवाई हीरजी' की पदवीसे विभूषित किया। हीरविजय सूरिकी वृद्धावस्था और शारीरिक अस्वस्थताका समाचार पाकर विजयसेन सूरि अकबरके दरबारमें अधिक नहीं ठहर सके और अपने गुरुकी सेवा करने निमित्त गूजरात लौट आये। वे गूजरात पहुंचे भी नहीं थे कि, इधर काठियावाडके ऊना गांवमें सं० १६५२ में हीरसूरिका स्वर्गवास हो गया। इन्हीं विजयसेन सूरिके पट्टधर ये विजयदेव सूरि हुए। इनको आचार्य पद सं० १६५५ मे, खंभातमें दिया गया था। उस समय इनकी उम्र कोई २१-२२ वर्षकी थी। सं० १६७२ में इनके गुरु श्रीविजयसेन सूरिका स्वर्गवास हो गया और उस समयसे ये अपने संघके सर्वप्रधान नायक बने।

हीरविजयसूरि के समयमें ही, उनके शिष्योंमें परस्पर कुछ विचार-भेद उत्पन्न हो गया, और वह धीरे धीरे बढता गया। विजयसेन सूरिके सामने उसने कुछ उग्र रूप धारण किया और फिर इन विजयदेवके समयमें वह पूर्णरूपसे वृद्धिंगत होकर आखिरमें इनके गच्छमें तीन भेद पड गये। हीरविजय सूरिके जिस विशाल गच्छके विजयसेन सूरि अकेले ही गणनायक थे और जिनका एकच्छत्र शासन था उसी गच्छके, विजयदेव सूरिके सामने तीन पक्ष होकर, उसमें ३ गणनायक हो गये; और एक ही

गुरुके शिष्य-प्रशिष्य परस्पर एक-दूसेरेके विरोधी वन कर गच्छ और संघके संगठनमें शिथिलता उत्पन्न करनेके निमित्त बन गये। गच्छके इस विरोधी वातावरणका प्रतिघोष ठेठ जहांगीरके दरवार तक जा पहुंचा। हीरविजय सूरिके शिष्योंमेंसे कईयोंके साथ जहांगीरका बचपनसे ही काफी परिचय था और वह अपने स्वर्गस्थ पिताकी, इन धर्मोपदेशकोंके साथवाली नीतिका यथोचित पालन भी करना चाहता। इस लिये उसने जब यह सुना कि हीरविजय सूरिके शिष्य, आपसमें अनबन हो जानेके कारण परस्पर एक दूसरेके विपक्षी बन रहे है और जिन विजयदेव सूरिको, हीरविजय सूरिके पट्टधर विजयसेन सूरिने अपना उत्तराधिकारी बनाया है उसके वारेमे कई शिष्य-प्रशिष्य अपना विरोध व्यक्त कर रहे हैं; तब उसने सोचा कि देखना चाहिए कि यह विजयदेव सूरि कौन हैं और कैसे है? । नियमानुसार उसने अपना फरमान भेज कर इन सूरिको अपने दरबारमें बुलवाये। जहांगीर उस समय मालवेके मांडू शहरमें था और विजयदेव सूरि खंभातमें चातुर्मास रहे हुए थे। बादशाहकी आज्ञा आते ही सूरिजी मांडू की ओर चलदिये और आश्विन सुदि १४ के दिन वहां पहुंच कर वादशाहसे मिले। जहांगीर इनकी विद्वत्ता, तेजस्विता और क्रियानिष्ठा को देख कर बहुत प्रसन्न हुआ; और इनके विपक्षियोंने जो जो बातें, इनके विषयमें उसके सामने कही थीं उनका इनमें विपरीतभाव जान कर, उसने इनको खूब सत्कृत किया और यह जाहिर किया कि—हीरविजय सूरिके ये ही यथार्थ उत्तराधिकारी हैं; और इस लिये इनको **जहांगीरी महातपा**की उपाधि दे कर उस गच्छके सच्चे अधिनायक प्रमाणित किये।

इस प्रकार, यद्यपि इन्हीं के गुरुभ्राता आदि कहे जानेवाले कितनेएक यतिजनों द्वारा इनके ऐकाधिपत्यमें कुछ विक्षेप उपस्थित किया गया और गच्छवासी यतिजन दो-तीन पक्षोंमें विभक्त हो गये; तो भी तत्कालीन जैन समाजमें इनका प्रभाव सर्वाधिक रहा और ये सबसे अधिक ख्यातिलाभ करते रहे। बादशाह जहांगीर के सिवा, मेवाडपति राणा जगत्सिंह, जामनगराधीश लाखा जाम, ईडरनरेश राय कल्याणमल आदि बहुतसे राजा-महाराजा भी इनका खूब आदर-सत्कार करते थे। जैन समाजके तो हजारों ही बडे बडे श्रीमान् और सत्तावान् श्रावकगण इनके परम भक्त थे। ये बडे बुद्धिमान् और प्रभावशाली तो थे ही, साथमें क्रियावान् भी पूरे थे। छठ, अट्ठम आदि उपवास तथा आयंबिल, निवी आदिकी तपस्या ये निरंतर किया करते थे। भोजन जिस दिन करते उस दिन भी प्रायः एक ही वक्त करते।

इन्होंने अपनी सारी उम्र में, २ शिष्योंको आचार्य बनाये, २५ शिष्योंको उपाध्याय पद दिये और ५०० को पंडित पद दिये। इनके निजके हाथसे २०० शिष्य दीक्षित हुए और १०० साध्वीयां दीक्षित हुई। सब मिला कर २५०० यति-साधु इनके आज्ञानुवर्ती थे और ७००००० (सात लाख) श्रावक-श्राविकाओंका विशाल समूह इनकी उपासना करता था। इनके उपदेशसे सेंकडों ही नये जैन मन्दिर बने, और पुराने सुरक्षित हुए। हजारों जिन मूर्तियोंकी इन्होंने प्रतिष्ठा की। जहां जहां ये गये वहां वहां श्रावक लोकोंने जैनधर्मकी प्रभावना करनेके लिये संघयात्रा, प्रतिष्ठामहोत्सव, साधर्मिकवात्सल्य और दान-पुण्य आदि अनेकानेक सत्कृत्य कर लाखों-करोडों रूपये खर्च किये।

अपने गच्छनायक गुरु विजयसेन सूरिकी मृत्युके बाद कोई ४०-४१ वर्ष तक ये इस प्रकार अपने संघका शासन करते रहे। पहले इन्होंने अपने कनकविजय नामक सुयोग्य शिष्यको, पाटणमें, सं० १६८१ में आचार्यपद देकर विजयसिंह सूरिके नामसे उद्घोषित कर उन्हें अपना उत्तरधिकारी निश्चित किया था; परंतु दुर्भाग्यवश इनके जीवितकाल-ही-में, सं० १७०९ में उनका स्वर्गवास हो गया; इससे फिर, वीरविजय नामक एक दूसरे योग्य शिष्यको, सं० १७१० में, गन्धार बन्दरमें रहते हुए नया आचार्यपद देकर विजयप्रभके नामसे उनको अपना सर्वाधिकारित्व समर्पण किया। इनका आज्ञानुवर्ती सारा जैन समुदाय, **देवसूरसंघ**के नामसे प्रसिद्ध हुआ और आज भी यह नाम जहां तहां प्रचलित है।

सं० १७१३ में, उसी ऊना नगरमें, जहां इनके प्रगुरु हीरविजय सूरिका स्वर्गवास हुआ था, वहां इनका भी स्वर्गवास हुआ और उसी जगद्गुरुके समाधिस्थानके पास श्रावकोंने इनका भी पवित्र समाधिस्थान बनाया।

इस प्रकार इन सूरिके जीवन-वृत्तान्तके साथ संबंध रखनेवाला इतिहास बडा विस्तृत है और वह तत्कालीन जैन समाजकी परिस्थितिका ज्ञान करानेमें बहुत ही अधिक महत्त्व रखता है ।

इनके जीवनका विस्तृत वर्णन जिसमें दिया गया है वह **विजयदेवमाहात्म्य** नामका संस्कृत ग्रंथ है । इस ग्रंथको हमने कोई १०-१२ वर्ष पहले सम्पादित कर जैनसाहित्यसंशोधक-ग्रन्थमालामें प्रकाशित किया था । उसकी छोटीसी भूमिकामें उस समय हमने लिखा था कि—

'यह विजयदेवमाहात्म्य १७ वीं शताब्दीके जैन धर्मके इतिहासकी दृष्टिसे एक बहुत ही महत्त्वका ग्रन्थ है । जैन आचार्योंमें विजयदेव सूरिको अन्तिम प्रभावशाली आचार्य गिन सकते हैं । इनके समयमें जैन यतिसमुदाय और श्रावकवर्गमें बहुत घटनायें घटीं और क्रान्तियां हुईं। धार्मिक और सामाजिक परिस्थितिके अवलोकनकी दृष्टिसे इन घटनाओंका इतिहास बहुत ही रोचक और सूचक है। इसलिये यह सारा इतिहास इस ग्रन्थके — विजयदेव माहात्म्यके — दूसरे भागके रूपमें प्रकट करनेका विचार रखा है ।'···इत्यादि ।

हमारा वह विचार अभीतक सफल नहीं हुआ; सम्भव है वह कार्य इसी ग्रन्थमालाके लिये निर्धारित हुआ हो । उक्त विजयदेवमाहात्म्य अब प्रायः अप्राप्यसा हो गया है । इच्छा है कि उसकी पुनरावृत्ति की जाय और उसके साथका यह सारा इतिहास खूब विस्तारके साथ लिखा जाय ।

प्रस्तुत देवानन्द महाकाव्यमें जो इन सूरिका चरित-वर्णन है वह तो बहुत ही संक्षिप्त है । यह तो एक चमत्कृति बतलानेवाला अलंकारमय काव्य है,—वर्णनात्मक चरित्र ग्रंथ नहीं;—इसलिये इसमें विस्तृत वर्णनकी कोई गुंजाईश भी नहीं है और अपेक्षा भी नहीं है। इसका उद्दिष्ट रस तो कवित्व है। तो भी काव्यकारने सूरिजीके जीवनकी प्रधान प्रधान घटनाओंका संक्षिप्त सूचन ठीक ठीक कर दिया है ।

इसके सम्पादक सुहृद्वर पं० श्रीबेचरदासजीने अपनी प्रस्तावनाके साथ इस काव्यका जो परिचय और सरल सार दिया है उससे संस्कृत नहीं जाननेवाला जिज्ञासुवर्ग भी काव्यका आशय ठीक समझ सकेगा और अपनी जिज्ञासा-तृप्ति कर सकेगा । जो संस्कृतज्ञ हैं उनको तो इसके पाठमें विशिष्ट आनन्द प्राप्त होगा ही ।

अनेकान्त विहार
शान्तिनगर, अहमदाबाद ।
कार्तिकशुक्ला १५, सं० १९९४

जिनविजय ।

॥ प्रस्तावना ॥

§ १. देवानन्दमहाकाव्यके संपादनका साधन

प्रस्तुत देवानन्द महाकाव्यका संपादन करनेमें हमें मात्र एक ही प्रति प्राप्त हुई है, और वह प्रति खुद ग्रन्थकारके निजी अक्षरसे लिखित प्रथम प्रतिके ऊपरसे लिखी हुई मालूम होती है। ग्रन्थकार देवानन्दकी अंतिम प्रशस्तिमें लिखते हैं कि–

"गोपालगिरिदुर्गेऽस्य लेखनं लेखनन्दनम्। वाचकैर्मेघविजयैः कृतं सुकृतहेतवे" ॥

अर्थात्–वाचक मेघविजयजीने प्रस्तुत ग्रन्थका लेखन गवालियरमें किया है। उपयुक्त प्रस्तुत प्रति, ग्रन्थकार लिखित प्रथम आदर्शके आधारसे लिखी होने पर भी प्रतिमें कहीं कहीं अशुद्धियां रह गईं हैं, जिसका सूचन संपादकीय टिप्पणमें किया गया है। प्रतिके पत्र सब मिलाकर ४६ हैं। प्रत्येक पत्रमें ११–१२ पङ्क्तियां हैं और प्रत्येक पङ्क्तिमें ३५–३७ अक्षर हैं। आजु-बाजु और ऊपरके हांसियेमें ग्रन्थकारकृत टिप्पणीयां भी लिखी गईं हैं। प्रतिमें प्रायः सर्वत्र पदच्छेद किया गया है। संधिद्वारा अदृश्यताको पाये हुए इ, ई, उ, ऊ वगैरह स्वरोंको भी खास खास चिन्होंसे बताये हैं। टिप्पणीमें कई जगह कोशोंके नामों का भी उल्लेख किया गया है। उल्लिखित कोशोंके स्थल शोध कर हमने उसके कांड पृष्ठ आदि भी दे दिये हैं। कई जगह व्याकरणके सूत्रोंका भी उल्लेख आता है। वे सूत्रादि कौनसे व्याकरणके हैं यह बात भी टिप्पणीयोमें हमने यथाप्राप्त बताई है। प्रति, अभीतक अच्छी हालतमें है। प्रतिकी दीर्घता लगभग १३ अंगुल है और पृथुता ६–७ अंगुल है। यद्यपि ग्रन्थका संपादन बडी सावधानीसे किया गया है फिर भी यदि कोई अशुद्धियां दृष्टिगोचर हों तो विज्ञ पाठक उन्हें सूचित करने की कृपा करें। संवत् १७५५ में श्रीमेरुविजयजीके शिष्य श्रीसुन्दरविजयजीने प्रस्तुत ग्रन्थकी लिपि कराई थी। यह उल्लेख देवानन्द महाकाव्यकी अंतिम प्रशस्तिमें है–

"शरेन्द्रियाद्रीन्दुमितेऽत्र वर्षे चालीलिखत् काव्यमिदं सुशिष्यः।
श्रीमेरुशब्दाद् विजयज्ञराजां श्रीसुन्दरादिर्विजयाभिधानः" ॥ –अंतिम प्रशस्ति।

कवि श्रीमेघविजयजीके जीवन-परिचयके विषयमें लिखनेके लिए अधिकाधिक साधन हमें श्रीमान् मोहनलाल दलीचंद देशाई बी. ए. एल् एल् बी. द्वारा प्राप्त हुए हैं; एतदर्थ श्रीदेशाईजी धन्यवादार्ह है। हमने आजसे कोई २३ वर्ष पहले श्रीमेघविजयजीके संबंधमें एक लेख जैनशासन **समाचार** पत्रमें प्रकट किया था उसका उपयोग भी प्रस्तुत प्रस्तावनामें किया गया है।

§ २. काव्यकारका परिचय

इस देवानंद महाकाव्यके प्रणेता उपाध्याय **मेघविजयजी** है। उनके जीवनका समस्त वृत्तांत तो उपलब्ध नहीं है अर्थात् उनके माता-पिता, मूल निवासस्थान, मूल नाम, साधु होनेके बाद उनका विहारक्षेत्र, उनके विशिष्ट उपासक इत्यादिका वृत्तांत जाननेका कोई साधन नहीं है। परंतु साधुदशाका जो कुछ थोडा बहुत वृत्तांत प्राप्त होता है वह उनकी निजकी कृतियोमेंसे है; और इस प्रकार है–

'उपाध्याय **मेघविजयजी** श्वेताम्बर जैन संप्रदायानुसारि **तपागच्छके** यति थे और वे प्रसिद्ध सम्राट् **अकबरके** कल्याणमित्र **श्रीहीरविजयसूरिजीके** संतानमें से थे। उनके दीक्षागुरु पंडित **कृपाविजय** थे और **श्रीविजयदेवसूरिके**

पट्टधर श्रीविजयप्रभसूरिजीने उनको वाचक पदवी देकर उन्हें उपाध्याय बनाये थे[1] । इतनी हकीकत मेघविजयजीके बनाए हुए सब ग्रन्थोंकी अंतिम प्रशस्तिमें मिलती है[1] ।

ग्रन्थकार श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथके बडे[2] भक्त मालूम होते हैं । यह बात उनकी कृतियोंसे मालूम होती है । ग्रन्थके आरंभमें और ग्रन्थान्तर्गतप्रकरणोंमें भी उन्होंने जहां तहां[3] 'ऐँ' का निर्देश किया है इससे मालूम होता है कि उनका श्रद्धामंत्र 'ऐँ' बीजमूलक है । प्रस्तुत काव्यकी आदिमें श्लोक नवमेमें[4] 'सिद्धि' शब्दका निर्देश करके ग्रन्थकारने अपने प्रगुरु मुनिसिद्धिविजयजीका भी स्मरण किया है । और यह बात 'सिद्धि' शब्दके टिप्पणमें स्पष्ट भी की है । ग्रन्थकारको श्रीविजयप्रभसूरिके द्वारा उपाध्याय पद मिला था[5] । १७२७ में प्रस्तुत समस्यापूर्तिकी रचना की[6] । १७४७ में मातृकाप्रसादग्रंथका[7] निर्माण किया और १७५७ में चंद्रप्रभा[8] नामक व्याकरणविषयक ग्रंथ बनाया । तथा १७६०[9] में सप्तसंधानमहाकाव्यकी रचना की । इससे ग्रन्थकारका समय १८ वीं शताब्दीमें होना निश्चित है । ग्रंथकार व्याकरणशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रके अच्छे विद्वान् थे । साहित्य और अलंकारके विद्वान् तो थे ही । उनकी अनेक कृतियोंसे उनका तत्तद्विषयक पांडित्य प्रकट होता है । ग्रन्थकारनिर्मित ग्रंथसूचि इस प्रकार है—

१ "जयतु विजयदेवश्रीगुरोः पट्टलक्ष्मी-प्रभुरिह विजयादिः श्रीप्रभः सूरिशक्रः ॥
तत्सेवासक्तचेता अनवरततया प्राप्तलक्ष्मीर्विशिष्य शिष्यः श्रीमत्कृपादेर्विजयपदभृतः सत्कवेर्वाचकश्रीः ।
मेघः पद्मप्रसादाद् विशदमतिजुषां श्राव्यकाव्यं चकार ॥" —देवानन्दमहाकाव्यप्रशस्ति ।

"तदनु गणधरालीपूर्वदिग्भानुमाली विजयपदमपूर्वं हीरपूर्वं दधानः ॥ ६६ ॥
कनकविजयशर्माऽस्यान्तिषत् प्रौढधर्मा शुचितरवरशीलः शीलनामा द्वितीयः ।
कमलविजयधीरः सिद्धिसंसिद्धितीरस्तदनुज इह रेजे वाचकश्रीशरीरः ॥ ६७ ॥
चारित्रशब्दाद् विजयाभिधानस्त्रयः सगर्भा धृतशीलधर्माः । एषां विनेयाः कवयः कृपाद्याः पद्मास्वरूपाः समयाम्बुराशौ ॥ ६८ ॥
तत्पादाम्बुजभृङ्गमेघविजयः०—" । —श्रीशांतिनाथचरित्र ।

वंशवल्ली—



२ देवानन्दमहाकाव्य, सर्ग चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ और सप्तमका प्रारंभ । देखो पृ० ३९, ४९, ५७, ६९ ।

३ देवानन्दमहाकाव्य, देखो पृ० ५७, ६९ ।

४ "स्वसाध्यसिद्धिं श्रयिताऽस्मि निःश्रमम्" । "सिद्धिम् इति च श्रीसिद्धिविजयं श्रयिताऽस्मि ।" —देवानन्दमहाकाव्य, पृ० २ टिप्पण ११ ।

५ "प्राप्तस्फुरद्वाचकख्यातिः श्रीविजयप्रभाख्यभगवत्सूरेस्तपागच्छपात् ।" —शांतिनाथचरित्र ।

६ "मुनि-नयन-अश्व-इन्दुमिते वर्षे हर्षेण सादडीनगरे । ग्रन्थः पूर्णः समजनि विजयदशम्यामिति श्रेयः ॥" देवानन्दमहाकाव्यप्रशस्ति ।

७ "ओं नमः सिद्धमिलादेर्वर्णाम्नायस्य वर्णनम् । चक्रे श्रीमेघविजयोपाध्यायो धर्मसाधनम् ॥"
"संवत्सरे अश्व-वार्धि-अश्व-भूमिते पोष उज्वले । श्रीधर्मनगरे ग्रन्थः पूर्णश्रियमशिश्रियत् ॥" —मातृकाप्रसाद ।

८ "विजयन्ते ते गुरवः शैल-शर-ऋषि-इन्दुवत्सरे तेषाम् । आदेशाद् देशपतेः स्थितिः कृता राजधान्यन्तः ॥
चातुर्मास्यामस्यां नाम्ना श्रीआगरावराख्यायाम् । नानायोगैरुचितै रचिता चन्द्रप्रभा सुधिया ॥" —चन्द्रप्रभाका प्रांतभाग ।

९ "वियद्-रस-मुनि-इन्दूनां प्रमाणात् परिवत्सरे । कृतोऽयमुद्यमः पूर्वाचार्यचर्याप्रतिष्ठितः ॥" —सप्तसंधानमहाकाव्यप्रांतभाग ।

१ **देवानन्दमहाकाव्य**[1] – रचनासमय सं० १७२७ । यह काव्य मारवाडके **सादडी** नगरमें बनाया था ऐसा ग्रन्थकारने स्वयं लिखा है और उसकी प्रतिलिपि गवालियरमें स्वयं ग्रन्थकारने की है, यह भी स्वयं लिखा है ।

२ **मातृकाप्रसाद** – रचनासमय १७४७ । यह ग्रन्थ अध्यात्मविषयक है । इसमें 'ॐ नमः सिद्धम्' के वर्णाम्नायपर विवरण किया है और 'ॐ' शब्दका रहस्य स्पष्टरूपसे बताया है । प्रस्तुत ग्रंथ **धर्मनगर**[2] (धरमपुरी) में बना है ऐसा स्वयं ग्रन्थकारने लिखा है ।

३ **चन्द्रप्रभा** – रचनासमय १७५७ । यह ग्रन्थ व्याकरणका है । हेमचंद्ररचित सिद्धहेमचंद्र नामक व्याकरणको कौमुदीके रूपमें बनाकर प्रस्तुत ग्रंथ बनाया है । इसकी रचना **आगरामें** हुई थी ऐसा खुद ग्रन्थकारने [3]ग्रन्थांतमें कहा है । ग्रन्थका परिमाण आठ हजार श्लोक है ।

४ **शांतिनाथचरित्र** – रचनासमय नहीं लिखा है । इस ग्रन्थमें नैषध काव्य[4]की समस्यापूर्ति है । विषय, भगवान् श्रीशांतिनाथजीका जीवन वर्णन है । यह ग्रंथ **विजयप्रभसूरि**के शासनमें बनाया गया था, इससे प्रतीत होता है कि ग्रंथका निर्माण काल १७१० के बादका है । क्यों कि **वीरविजयमुनि**, १७१० में आचार्य होकर **विजयप्रभसूरि** बने थे ।

५ **दिग्विजयमहाकाव्य** – रचनासमय नहीं ज्ञात हुआ । तो भी इसमें विजयप्रभसूरिका जीवन-वर्णन है, इससे यह ग्रन्थ भी १७१० के बादका ही होना चाहिए । इसमें तेरह सर्ग है; और ग्रन्थकारके बनाए हुए सब काव्योंमें यह सबसे बडा है ।

६ **सप्तसन्धानमहाकाव्य** – रचनासमय १७६०[5] । यह काव्य बडा चमत्कारी है । इसमें एक ही श्लोकमें सात पुरुषोंकी कथा कही गई है । ऋषभदेव, शांतिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर स्वामी, कृष्णचंद्र और रामचंद्र – इन सात महापुरुषोंका जीवन चरित्र इस काव्यके प्रत्येक श्लोकमें वर्णित हैं । ग्रन्थप्रमाण अनुष्टुप् श्लोक ४४२[6] है । ग्रन्थकार कहते हैं कि–"आचार्य[7] **हेमचंद्रका** बनाया हुआ सप्तसन्धानकाव्य था परंतु वह अब नहीं मिलता है इस कारण हमने यह नया बनाया है" । महाकवि **धनंजयने** द्विसन्धान महाकाव्य बनाया है । परंतु द्विसन्धानकाव्यसे यह सप्तसन्धानकाव्य विशेष चमत्कृतिपूर्ण है ।

---

१ "मुनि-नयन-अश्व-इन्दुमिते वर्षे हर्षेण सादडीनगरे । ग्रन्थः पूर्णः समजनि विजयदशम्यामिति श्रेयः" ॥–देवानन्दमहाकाव्य,प्रान्तप्रशस्ति ।

२ देखो सातवां टिप्पण ।

३ देखो आठवां टिप्पण ।

४ नैषधकाव्यकी उक्त समस्यापूर्तिका नमूना इस प्रकार है–

"श्रियामभिव्यक्तमनोऽनुरक्तता विशालसालत्रितयश्रिया स्फुटा ।
तया बभासे स जगत्त्रयीविभुर्ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः" ॥ १ ॥

–शांतिनाथचरित्र, प्रारम्भिकश्लोक ।

"गच्छाधीश्वरहीरहीरविजयाम्नाये निकाये धियां प्रेष्यः श्रीविजयप्रभाख्यसुगुरोः श्रीमत्तपाख्ये गणे ।
शिष्यः प्राज्ञमणेः कृपादिविजयस्याशास्यमानाग्रणीश्चक्रे वाचकनाममेघविजयः शस्यां समस्यामिमाम्" ॥–शांतिनाथचरित्र, प्रतिसर्गप्रान्तप्रशस्ति ।

५ देखो नवम टिप्पण ।

६ "सूत्रतः सूत्रिता ग्रन्थे द्विचत्वारिंशदन्विता । चतुःशतीह काव्यानां सप्तसन्धाननामनि" ॥

७ "श्रीहेमचन्द्रसूरीशैः सप्तसन्धानमादिमम् । रचितं तदलाभे तु स्यादिदं तुष्टये सताम्" ॥ –सप्तसंधानमहाकाव्यप्रांतभाग ।

१ **देवानन्दमहाकाव्य**[१] – रचनासमय सं० १७२७। यह काव्य मारवाडके **सादडी** नगरमें बनाया था ऐसा ग्रन्थकारने स्वयं लिखा है और उसकी प्रतिलिपि गवालियरमें स्वयं ग्रन्थकारने की है, यह भी स्वयं लिखा है।

२ **मातृकाप्रसाद** – रचनासमय १७४७। यह ग्रन्थ अध्यात्मविषयक है। इसमें 'ॐ नमः सिद्धम्' के वर्णाम्नायपर विवरण किया है और 'ॐ' शब्दका रहस्य स्पष्टरूपसे बताया है। प्रस्तुत ग्रंथ **धर्मनगर**[२] (धरमपुरी) में बना है ऐसा स्वयं ग्रन्थकारने लिखा है।

३ **चन्द्रप्रभा** – रचनासमय १७५७। यह ग्रन्थ व्याकरणका है। हेमचंद्ररचित सिद्धहेमचंद्र नामक व्याकरणको कौमुदीके रूपमें बनाकर प्रस्तुत ग्रंथ बनाया है। इसकी रचना **आगरामें** हुई थी ऐसा खुद ग्रन्थकारने [३]ग्रन्थांतमें कहा है। ग्रन्थका परिमाण आठ हजार श्लोक है।

४ **शांतिनाथचरित्र** – रचनासमय नहीं लिखा है। इस ग्रन्थमें नैषध काव्यकी[४] समस्यापूर्ति है। विषय, भगवान् श्रीशांतिनाथजीका जीवन वर्णन है। यह ग्रंथ **विजयप्रभसूरिके** शासनमें बनाया गया था, इससे प्रतीत होता है कि ग्रंथका निर्माण काल १७१० के बादका है। क्यों कि **वीरविजयमुनि**, १७१० में आचार्य होकर **विजयप्रभसूरि** बने थे।

५ **दिग्विजयमहाकाव्य** – रचनासमय नहीं ज्ञात हुआ। तो भी इसमें विजयप्रभसूरिका जीवन-वर्णन है, इससे यह ग्रन्थ भी १७१० के बादका ही होना चाहिए। इसमें तेरह सर्ग है; और ग्रन्थकारके बनाए हुए सब काव्योंमें यह सबसे बडा है।

६ **सप्तसन्धानमहाकाव्य** – रचनासमय १७६०[५]। यह काव्य बडा चमत्कारी है। इसमें एक ही श्लोकमें सात पुरुषोंकी कथा कही गई है। ऋषभदेव, शांतिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर स्वामी, कृष्णचंद्र और रामचंद्र – इन सात महापुरुषोंका जीवन चरित्र इस काव्यके प्रत्येक श्लोकमें वर्णित हैं। ग्रन्थप्रमाण अनुष्टुप् श्लोक ४४२[६] है। ग्रन्थकार कहते हैं कि – "आचार्य[७] **हेमचंद्रका** बनाया हुआ सप्तसन्धानकाव्य था परंतु वह अब नहीं मिलता है इस कारण हमने यह नया बनाया है"। महाकवि **धनंजयने** द्विसन्धान महाकाव्य बनाया है। परंतु द्विसन्धानकाव्यसे यह सप्तसन्धानकाव्य विशेष चमत्कृतिपूर्ण है।

---

१ "मुनि-नयन-अश्व-इन्दुमिते वर्षे हर्षेण सादडीनगरे। ग्रन्थः पूर्णः समजनि विजयदशम्यामिति श्रेयः"॥–देवानन्दमहाकाव्य,प्रान्तप्रशस्ति।

२ देखो सातवां टिप्पण।

३ देखो आठवां टिप्पण।

४ नैषधकाव्यकी उक्त समस्यापूर्तिका नमूना इस प्रकार है–

"श्रियामभिव्यक्तमनोऽनुरक्तता विशालसालत्रितयश्रिया स्फुटा।
तया बभासे स जगत्रयीविभुर्ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः" ॥ १ ॥

–शांतिनाथचरित्र, प्रारम्भिकश्लोक।

"गच्छाधीश्वरहीरहीरविजयाम्नाये निकाये धियां प्रेष्यः श्रीविजयप्रभाख्यसुगुरोः श्रीमत्तपाख्ये गणे।
शिष्यः प्राज्ञमणेः कृपादिविजयस्याशास्यमानाग्रणीश्चक्रे वाचकनाममेघविजयः शस्यां समस्यामिमाम्"॥–शांतिनाथचरित्र, प्रतिसर्गप्रान्तप्रशस्ति।

५ देखो नवम टिप्पण।

६ "सूत्रतः सूत्रिता ग्रन्थे द्विचत्वारिंशदन्विता। चतुःशतीह काव्यानां सप्तसन्धाननामनि" ॥

७ "श्रीहेमचन्द्रसूरीशैः सप्तसन्धानमादिमम्। रचितं तदलाभे तु स्तादिदं तुष्टये सताम्" ॥ –सप्तसंधानमहाकाव्यप्रांतभाग।

किया है। ग्रन्थकारने उक्त ग्रंथका संबंध **'स्थानांग'** नामक तीसरे अंगसे बताया है। यह ग्रंथ संस्कृत प्राकृत दोनों भाषाओंमें मिश्रित है।

१० **युक्तिप्रबोध नाटक**, ११ **हस्तसंजीवन** और उसकी वृत्ति (रेखाशास्त्र) १२ **उदयदीपिका**[1] (प्रश्न निकालनेकी पद्धति), १३ **पंचाख्यान**, १४ **वीसायंत्रविधि**,[2] १५ **अर्हद्गीता** (तत्त्वगीता[3]), १६ **पंचमीकथा**, १७ **लघुत्रिषष्टिशलाकाचरित्र**–इत्यादि और भी अनेक ग्रंथ मेघविजयजी उपाध्यायके बनाए हुए हैं।

इसके उपरांत गुजराती भाषामें भी उनकी कितनी एक रचनाएं विद्यमान हैं। १ स्वाध्याय **जैनशासन**[4] **दीपक**, २ स्वाध्याय **जैनधरमदीपक**, ३ स्वाध्याय **आहारगवेषणा** ये तीन सज्झायें कविराज श्री**मेघविजयजीने** बनाई है। **'विजयदेवनिर्वाण रास'** भी इनकी एक गुजराती कृति है। इससे ग्रन्थकारकी मातृभाषाभक्ति प्रतीत होती है। ग्रन्थकारका एक स्वहस्तलिखित पत्र भी विद्यमान है और वह पत्र ग्रन्थकारने सं० १७६० भादरवा[5] शुदि० १ को **गवालियरसे** अपने शिष्य मुनि सुंदरविजय जो **जिहानाबाद** (दिल्ली) नगरमें चातुर्मास थे उन पर लिखा हुआ है।

इस प्रकार ग्रंथकारका अनेक विषयोंमें प्रकांड पांडित्य प्रकट होता है।

प्रस्तुत ग्रंथ, श्रीसिंघीजैनग्रन्थमालामें मेरे द्वारा संपादित होकर प्रकट होता है, इसके लिए में आचार्य श्रीजिनविजयजीका और ग्रंथमालाके प्राणरूप श्रीमान् बहादूरसिंहजी सिंघीका ऋणी हूं। आशा करता हूं कि इस प्रकार और भी श्रीसिंघीजैनग्रंथमालामें नवीन नवीन ग्रंथोंका संपादन कर श्रुतज्ञानकी उपासनाका भागी बनूं।

अमदावाद
भारतीनिवास
नं. १२, ब.

बेचरदास।

---

१ उदयदीपिकाके प्रारंभका भाग–

"नत्वार्हन्तं पार्श्वभास्वद्रूपं शङ्खेश्वरस्थितम्। श्रीश्राद्धमदनात् **सिंहे** धर्मलाभः प्रतन्यते ॥ १ ॥
श्रीकेशवकृतार्चस्य श्रीपार्श्वस्य प्रभावतः। प्रभासभाजनानन्दहेतुरत्रास्तु वस्तुतः ॥ २ ॥
कृपामूलेऽर्हतां धर्मे श्रीमेघविजयोदयः। गवां रसप्रसारेण भूयाद् जीवनसम्पदे" ॥ ३ ॥

२ अन्तभाग–

"श्रीमेघविजयः प्राप्तोपाध्यायपदविश्रुतः। भूविश्वेत्यादिकाव्यस्य व्याख्यानं चकृवानिदम्" ॥

३ "इतोऽधिकं किञ्चन मातृकाया व्याख्यानमादेशि मया वितत्य। श्रीतत्त्वगीताहितसत्प्रतीताध्यायेषु सद्ध्येयधियोत्तरेषु"॥ –मातृकाप्रसाद।

४ श्रीमेघविजयजीकी गूजराती भाषाका नमूना:–

"इम जैन धरम शुद्ध जाणो नाणउ संका तेहनी, धुरि भले भणतां शास्त्र गणतां शुद्ध मति हुइ जेहनी।
तपगच्छनायक सुगुणग्राहक श्रीविजयप्रभगणधरो, तस पट्टधारी ब्रह्मचारी विजयरत्नसूरीसरो ॥
तस आण नित्य प्रमाण राखि कवि कृपाविजया तणउ। कहे सीस वाचक मेघविजया सेवक वाणी सवि भणउ।"
—स्वाध्याय जैनशासनदीपक।

५ पत्रका अंतिम भाग–

"श्राद्ध सर्वेनैं बिहुं पारइं धर्मलाभ कहवो। वलता लेख सविशेष समाचारइं लिखवा।
अत्र जलद चारु छइ। गोहु दोढ मण। चिणा बे छइं। सुगाल छइं। साता मानयो।
संवत १७५६ भाद्र सुदि १।

पत्रका आदि भाग–

"अत्र शर्म कर्म छइं। तत्रनो ताहरो लेख श्रावण सुदि १२ नो लिख्यो लेख आव्यउ। समाचार जांण्या। तथा क्षेत्र आश्री लिख्युं ते तो काल एहवो ज छे। सर्वत्र क्षेत्र दुर्भिक्षरूप थया छे। पन्नग व्याप्त छइं। तेणे जिम तिम निर्वाह करवो ॥"
–यह पत्र सारा गद्यमें है।

§ ३. देवानन्द महाकाव्यकी समस्यापूर्तिका परिचय

प्रस्तुत सप्तसर्गात्मक महाकाव्य, माघकी समस्यापूर्तिरूप है । समस्यापूर्ति वा पादपूर्तिका स्वरूप इस प्रकार है–"**या समासार्था पूरणीयार्था कविशक्तिपरीक्षणार्थम् अपूर्णतयैव पठ्यमानार्था वा सा समस्या**"–अमरकोश-टीका प्रथमकाण्ड, शब्दादिवर्ग श्लो० ७; अथवा "**भिन्नाभिप्रायस्य श्लोकादेः तदीयत्वेन प्रत्यभिज्ञायमानानां भागानां स्वकृतेन परकृतेन वा भागान्तरेण समसनं सन्धानं समस्या**"–माधवी, शब्दकल्पद्रुमकोश । अर्थात्–कविकी शक्तिके परीक्षणार्थ जिसका अर्थ पूरणीय है ऐसा पाद वा पादोंका उच्चारण, जिसको सुनकर प्रतिभाशाली कवि पूरणीय अर्थको पूरा कर देवें । अथवा जिसका अभिप्राय भिन्न भिन्न है ऐसे श्लोकादिकका अपनी वा परकी कृतिसे सन्धान करना याने भिन्न भिन्न अभिप्रायवाले अपूर्ण श्लोकको अपने अभिप्रायसे संगतरीतिसे पूरा करनेका नाम समस्यापूर्ति वा पादपूर्ति है । माघकी पादपूर्तिरूप प्रस्तुत देवानंदमहाकाव्यमें समस्यापूर्तिका उक्त लक्षण ठीक ठीक घटमान है । काव्यकार उपाध्याय मेघविजयजी प्रस्तुत समस्यापूर्तिमें सर्वथा सफल हुए हैं इतना ही नहीं किन्तु इस समस्यापूर्तिमें उनकी नवनवार्थशालिनी प्रकांड सर्वतोमुखी प्रतिभाका भी पता चलता है । माघका मुख्य विषय कृष्णवासुदेवकृत शिशुपाल-वध है और प्रस्तुत काव्यका नायक वासुदेव कुमार–जो पीछेसे विजयदेवसूरि बनता है- है । माघके और देवानंदकाव्यके नायक वासुदेवपदाङ्कित है । कृष्णवासुदेवको दिल्ली जाना पडता है इसी तरह हमारे चरित्र नायकको भी जहांगीर बादशाहके पास दिल्ली जाना पडा है और कृष्णवासुदेवने रैवतक पर्वतके दर्शन किये थे इसी प्रकार हमारे चरित्रनायक भी तीर्थयात्राके लिए रैवतकगिरिको गए थे । इस प्रकार माघके नायकमें और प्रस्तुत काव्यके नायकमें थोडा वहुत साम्य है । प्रस्तुत समस्यापूर्तिमें माघके सात सर्गोंका ही संबंध है । समस्यापूर्तिके लिए माघके श्लोकका अंतिम चरण–चतुर्थ चरण–अधिकतासे लिया गया है और कहीं कहीं आद्य चरण, द्वितीय चरण और तृतीय चरण भी उपयोगमें लाया गया है । संपादककृत टिप्पणोमें यह बताया गया है कि प्रस्तुत समस्यापूर्तिरूप काव्यमें कहां माघका प्रथम चरण है, कहां द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरण है; और साथमें माघके श्लोकका पाठभेद भी दर्शाया गया है । विसर्ग, अनुस्वार, पृथक्पद, समस्तपद, विभक्तिके वचनका भेद, क्रियापदभेद, 'श' 'स' 'न' 'च' का भेद, अत्यंत सदृश समानार्थक शब्दका निक्षेप, समानार्थक शब्दका न्यास, संधिभेद, शब्दस्थानभेद, लिपिकारभेद–इत्यादि पर उक्त पाठभेद निर्भर है, और संपादकीय टिप्पणोमें जहां जहां वैसा पाठभेद हुआ है यह सब माघके श्लोकोंका प्रमाण देकर स्पष्टतया बताया गया है । समस्यापूर्ति भी पद्मबंधादिकी तरह एक प्रकारका चित्र–आश्चर्यकर–काव्य है; इसी कारणसे उसमें विसर्ग, अनुस्वारका अधिक महत्त्व नहीं, माघमें कहीं 'ललनाः' पाठ हो और इसमें 'ललना' पाठ हो इससे समस्यापूर्तिकी लेश भी क्षति नहीं । माघमें कहीं 'दिवम्' पाठ हो और यहांपर 'दिव' पाठ हो तब भी समस्यापूर्तिमें कमी नहीं आ सकती । समस्यापूर्तिमें पूरणीय चरणके शब्दोंको नहीं बदलकर अर्थकी पूर्ति करनी होती है । कहीं कहीं 'स्रुति'के स्थानमें 'च्युति', 'हव्यवह'के स्थानमें 'हव्यभुज' 'पयोज' के स्थानमें 'सरोज' इस प्रकारका परिवर्तन प्रस्तुत समस्यापूर्तिमें आया है परंतु यह परिवर्तन समस्याकारका खुदका किया हुआ है वा माघके ही पाठांतर है यह निश्चय नहीं हो सकता । और इस प्रकारका क्वचित् क्वचित् परिवर्तन समस्याकारका हो, तब भी समस्यापूर्तिके लिए बाधक नहीं, क्यों कि जहां सर्गोंके सर्गों तक समस्यापूर्ति चलती हो वहां इतना परिवर्तन अवश्य हो जाता है । प्रस्तुत समस्यापूर्तिमें खास खूबी यह है कि माघके चरणोंका नया ही अर्थ समस्याकारने निकाला है । अर्थकी यह खूबी काव्यकारने अपनी टिप्पनीमें दी है । माघमें जहां जहां श्लोकके प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरणमें यमक है वहां वहां समस्याकारने यमक रखकर बडी चातुरीसे अर्थानुसंधान किया है । जैसी चमत्कृति माघमें है ऐसी ही चमत्कृति प्रस्तुत काव्यमें हैं । समस्याकारका मुख्य उद्देश कविताके द्वारा गुरुभक्तिको प्रगट करनेका है; इसी कारणसे प्रस्तुत काव्यमें नायकका संपूर्ण चरित्र सविस्तर नहीं बताकर

मात्र मोटी मोटी बातें दिखलाई हैं और अपनी सारी प्रतिभा समस्यापूर्तिके कार्यमें लगाकर काव्यजगतमें चमत्कृति पैदा कर गुरुकी महिमा बढाई है। काव्यकारने और भी प्रसिद्ध प्रसिद्ध काव्योंकी समस्यापूर्ति बनाई है इससे उनकी प्रतिभापूर्ण कवित्वशक्तिका पता चलता है। कविकुलकिरीट कालिदासके मेघदूतकी और श्रीहर्षरचित नैषध काव्यकी भी समस्यापूर्ति काव्यकारने बनाई है; इससे प्रतीत होता है कि काव्यकार एक अद्वितीय सिद्धहस्त समस्यापूरक थे। काव्यकार एक अद्वितीय कवि होने पर भी कहते हैं कि–

"नोद्रेकः कवितामदस्य न पुनः स्पर्धा न साम्यस्पृहा
श्रीमन्माघकवेस्तथापि सुगुरोर्मे भक्तिरेव प्रिया।
तस्यां नित्यरतेः सुतेव सुभगा जज्ञे समस्याऽद्भुता
सेयं शारदचन्द्रिकेव कृतिनां कुर्याद् दृशामुत्सवम्॥
माघः सान्निध्यकृद् भूयाद् मल्लिनाथैस्तथैक्ष्यताम्। हास्येन मम दास्येऽस्मिन् यथाशक्त्युपजीविते॥
अस्या न मधुरा वाचो नालंकारा रसावहाः। पूर्वसङ्गतिरेवास्तु सतां पाणिग्रहश्रिये॥"

अर्थात्–किसी प्रकारके कविताके मदसे प्रस्तुत समस्यापूर्ति नहीं बनाई है। एवं श्रीमान् माघकविके साथ हमारी स्पर्धा भी नहीं है, तथा उनके समान होनेका भी हमारा दावा नहीं है। मात्र हमारे सुगुरुकी भक्तिको प्रस्तुत समस्यापूर्तिसे व्यक्त की है। हमारे प्रस्तुत कार्यमें यशःशरीरी माघकवि भी सहाय करें, टीकाकार मल्लिनाथ प्रभृति हमारी तरफ निगाह रक्खें। हमने तो यथाशक्ति यह दास्य कार्य किया है। प्रस्तुत समस्यापूर्तिकी वाणी मधुर नहीं अलंकार भी रसावह नहीं मात्र पूर्वसंगति मात्र है। तो भी गुरुभक्तिप्रदर्शक हमारी यह कृति सज्जनोंके करकमलमें हो ऐसी हमारी मनःकामना है।

ये संस्कृत पद्य समस्याकारने देवानन्द महाकाव्यकी अंतिम प्रशस्तिमें दिये हैं। देखिए तो सही, इन पद्योंसे कर्ताकी सरलता, नम्रता, निरभिमानिता और गुरुभक्तिका रस किस प्रकारसे टपक रहा है। वर्तमान कालके मुमुक्षु लोक, कविराज मेघविजयजीके इन गुणोंका अनुकरण करें और काव्यरसके पिपासु गण प्रस्तुत काव्यको पढ कर माघके पढनेका आनन्दानुभवके साथ एक सुप्रसिद्ध जैनाचार्यके वृत्तान्तसे भी परिचित बनें। इति शुभम्।

§४. देवानन्दमहाकाव्यका सरल और संक्षिप्त सारार्थ।

[१] सब द्वीपोंमें उत्तम **जंबूद्वीप**। उसमें **गंगानदीसे** सुशोभित **भारतवर्ष**। भारतवर्षमें सर्वोत्तम देश **गूजरात**। वह समीपवर्ती समुद्रसे सुशोभित है। उसमें विकस्वर कमलयुक्त अनेक सरोवर हैं। उसके अनेक खेतोंमें संख्यातीत हल रात-दिन चलते रहते हैं। उन खेतोंमें उत्तमोत्तम ईख पकती है। गूजरात देशमें पार्श्वनाथ भगवानका **शंखेश्वरनामक** अद्भुत तीर्थ है, और दूसरे भी अनेकानेक पवित्र तीर्थोंसे वह देश अलंकृत है। गूजरात देशमें गौओंका क्षीर नित्य प्रति झरता रहता है इससे उसका 'गूर्जर' नाम यथार्थ है। इस प्रकार अनेक शोभासे विभूषित गूर्जर देशमें पहाडकी तलहट्टिकाके पास **इलादुर्ग (ईडर)** नामक श्रेष्ठ नगर है। उस नगरका राजा **नारायण** है। नारायणके पिताका नाम **पुंज** और पितामहका नाम **भाण** था। राजा सुप्रसिद्ध **राठोड** वंशका था। उस नगरमें **स्थिर** नामका सर्वोत्तम व्यवहारी रहता था। स्थिरके पिताका नाम **माधव** था। स्थिरकी पत्नी **रूपा** थी जो बडी सुरूप और पतिव्रता थी। जब रोहिणी नक्षत्र शुभयोगयुक्त था तब विक्रम संवत्[1] १६३४ के पोष शुक्ल त्रयोदशी रविवारके शुभ दिन, **रूपाबाईने** एक अद्भुत पुत्रको जन्म दिया। अद्भुतताके ही कारण पुत्रका नाम **वासुदेव**[2] रक्खा गया।

---

१ "चतुस्त्रिंशत्तमे वर्षे षोडशस्य शतस्य हि। पौषे मासे सिते पक्षे त्रयोदश्यां दिने रवौ"॥–विजयदेवसूरिमाहात्म्य, सर्ग १, श्लो० १८।

२ **वासकुमार**–विजयदे० मा०।

[२] बालक **वासुदेव** युवान हुआ तब माताकी इच्छा उसको विवाहित करनेकी हुई । परंतु, पुत्र तो जैनी दीक्षाको वरना चाहता था । पुत्रके दीक्षा लेनेके विचारको जानकर माताने, पिताने और भाईयोंने उसको खूब समझाया, दीक्षाके दुःख बतलाए और दीक्षा न लेकर गृहस्थ बननेको कहा, परंतु युवक **वासुदेव** अपने विचारसे लेश भी चलित न हुआ; किंतु मातापितादिकको दीक्षाका परमार्थ समझाकर, अपना विचार सविशेष दृढीभूतकर दीक्षाके लिए उसने मातापिताकी संमति प्राप्त की । पुत्रस्नेहसे उसकी माताने भी दीक्षा लेनेका संकल्प किया । पुत्र **वासुदेवने** दीक्षा लेनेके पूर्व तीर्थयात्राका विचार किया । दीक्षाके लिए गुरुको भी ढूंढना तो था ही । तीर्थयात्राके निमित्तसे वह कार्य अधिक सुकर हो गया । अपने राजाके द्वारा यात्राप्रवासके लिए स्थल-स्थलमें सुप्रबंध करनेके हेतु नगरके राजाकी संमति लेकर **स्थिर** व्यवहारीका पुत्र **वासुदेव** तीर्थभ्रमणार्थ चल पडा ।

उस समय जैन धर्मके महान् आचार्य श्री**विजयसेनसूरि राजनगर** (अमदावाद) में विराजमान थे । **अकबर** पादशाहको प्रतिबोध करनेवाले महान् तेजस्वी आचार्य श्री**हीरविजयजीके** वे पट्टधर शिष्य थे ।

तीर्थयात्रा करते करते युवक **वासुदेवकुमार, अमदावादमें** आ पहुंचा और श्री**विजयसेनसूरि**जीके उपाश्रयमें गुरुवंदनके लिए गया। गुरुकी उपदेशपूर्ण वाणी सुन कर **वासुदेव** कुमारने गुरुको कहा कि—"मुजको दीक्षा दीजिए"। **वासुदेवकुमार**की सोल्लास विनंती सुन कर गुरुने कहा कि—"वत्स ! तेरे ही निवास स्थलमें तेरेको दीक्षा देना उचित है, अर्थात् तेरी दीक्षाविधि ईडरमें करना समुचित है; परंतु तेरे अत्याग्रहसे तेरी दीक्षाविधि यहांपर—अमदावादमें—भी करना अनुचित नहीं । **राजनगर**के श्रावकोंने मिलकर **वासुदेवकुमार**का दीक्षोत्सव किया और **अमदावाद**की **हाजापटेल**की पोलमें प्रियालवृक्षके नीचे सकलसंघ-समक्ष श्री**विजयसेनसूरि**ने युवक **वासुदेव**को संवत् १६४३ के माघ शुदि दशमीको दीक्षित करके उसका **'विद्याविजय'** नाम प्रकट किया । दीक्षोत्सवके समय सारे देशमें अमारि रखनेका प्रबंध हुआ था और दानका प्रवाह अविरत बहता था । अब **वासुदेवकुमार** नहीं परंतु मुनि **विद्याविजय** पांच व्रतोंको धारण कर उनका यथाशक्ति पालन करने लगे और शास्त्रोंका अध्ययन करनेके लिए तत्पर हुए । अपने प्रवल प्रयत्नसे मुनि **विद्याविजय** ज्ञान और क्रिया दोनों मार्गके पारगामी हुए ।

एक समयकी बात है कि बादशाह **अकबरने** श्री**विजयसेनसूरि**जीको अपने दरबारमें आनेका आमंत्रण भेजा । **राधनपुरसे** विहार करते हुए सूरिजी **लाहोरमें**[४] बादशाहके दरबारमें पधारे और धर्मके स्वरूपकी चर्चा की । सूरिजीने बादशाहको कहा कि—'दयामय धर्म ही सर्व श्रेयका असाधारण कारण है' । उस समय कई ब्राह्मणोंने बादशाहको कहा कि—'हुजूर ! खुदाकी बनाई हुई परमपवित्र श्री**गंगा** माताजीको ये जैनाचार्य नहीं मानते' । इसका उत्तर देते हुए आचार्यने कहा कि—'राजन् ! ऐसी बात नहीं है । हम जैन लोक **गंगाजी** को बडी पवित्र मानते हैं और इसी कारण हमारे जैन मंदिरोंकी प्रतिष्ठामें गंगाजलके विना चल ही नहीं सकता' । ऐसा कहकर दरबारमें आए हुए ब्राह्मणोंको आचार्यजीने निरुत्तर कर दिए । फिर आचार्यजी, भूतल पर विहार करने लगे और जैन धर्मके उपदेशका प्रचार करने लगे ।

---

१ **विजयदेवमाहात्म्य**में श्री**वल्लभोपाध्यायने** लिखा है कि—"**राजनगर**में अपने पुत्रको और अपनी पत्नीको दीक्षित करानेके लिए **स्थिर शेठ** खुद आया था और किरायेके मकानमें रहता था" ।

"अथ श्र्यहम्मदावादे स्थिरः श्रेष्ठी समाययौ । पुत्रस्य स्वस्य पत्न्याश्च दीक्षाग्राहणहेतवे ॥"—सर्ग ५ श्लो० १ ।

२ "षोडशस्य शतस्यास्मिन् त्रिचत्वारिंशवत्सरे । दशम्यां माघशुक्लस्य दीक्षाऽभूद् यस्य सोऽवतात् ॥" सर्ग ५ श्लो० ५२ ।

३–४ विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग ६, श्लो० १३–२१ ।

["बादशाहके आग्रहसे सूरिजीने **लाहोर**में दो चातुर्मास किए और बाद अपने गुरु श्री**हीरविजयजी**को **ऊना**-नामक ग्राममें रोगग्रस्त जानकर वे **लाहोर**से गुरुजीके पास आनेको निकल पडे । गूजरात तरफ आते आते रास्तेमें **सादडी**में चोमासा करना पडा और वहां ही श्री**विजयसेनसूरि**जीने सुना कि श्री**हीरविजयजी** गुरु, स्वर्गको सिधार गए । गुरुजीका स्वर्गगमन सुनकर आचार्यजीको वडी ग्लानि हुई । **सादडी**से आचार्यजी **पाटण** पहुंचे, वहांसे **खंभात** होकर **अमदाबाद**को गए । **अमदाबाद**में और उसके पास **सिकंदरा**में श्रीसंघके आग्रहसे आचार्यजीने एक एक चातुर्मास किया । वहांसे **लाटापल्ली (लाडोलपुर)** में और वहांसे अपने गुरुके निर्वाण स्थल **उन्नतपुर** (ऊना) में आए । वहांसे विहार करते करते और अनेक ग्राम और नगरोंको अपने सदुपदेशसे पावन करते हुए आचार्यजी **सूरत**को गए । वहांसे फिर **ऊना**को गये ।

श्री**विजयसेनसूरिजी**के एक श्रेष्ठ शिष्य **नन्दिविजय**मुनि बडे पंडित थे और अनेक भाषाओंके ज्ञाता थे । उस समय **दीव** बंदरमें **फिरंगी**योंका राज्य था । वे फिरंगी लोक दुरात्मा थे । उन फिरंगीयोंके गुरु **'पादरी'** कहलाते थे । उक्त **नन्दिविजय** मुनिने अपने कौशलसे फिरंगीयोंको बडे प्रसन्न कर लिये । अतिप्रसन्न होनेसे **फिरंगी**लोक जिन-धर्ममें भक्ति रखने लगे, जिनप्रवचनको जानने लगे और जैन साधुओंकी सेवामें तत्पर भी रहने लगे । **फिरंगी**योंने अपने गुरु **पादरी**को कहा कि–'जैन मुनियोंको **दीवबंदर**में आनेके लिए निमंत्रण भेजा जाय' 'जैन मुनियोंको देखनेकी तीव्र इच्छा सब **फिरंगीयों**में व्यक्त हुई है' । **पादरी**ने श्री**विजयसेनसूरि**को **दीवबंदर**में आनेके हेतु अपने हाथसे पत्र लिख भेजा । परंतु **दीव**के अग्रणी मुनिभक्त श्रावक **मेघजी**की संमति जब तक न मिले तब तक सूरिजी **दीवमें** जानेको उत्सुक न हुए । क्यों कि उक्त **मेघजी**श्रावक **फिरंगी**योंका बडा प्रियमित्र था और **दीव**का **फिरंगी** राजा क्रूर था । इधर **पादरी**का पत्र पाकर सूरिजी न आए तब **मेघजी**के कहनेसे **फिरंगीयों**के राजाने स्वयं पत्र लिख भेजा और उस पत्रसे सूरिजी **दीव**को पधारे । आचार्य और **फिरंगीयों**के राजाके बीच धर्म-वार्ता हुई, **फिरंगी**योंका राजा प्रसन्न हुआ और उसने आदरके साथ जैन मुनियोंको **दीव**में रहनेकी संमति दी । अब सूरिजीने **दीव**से विहार किया और फिरते फिरते वे **अमदावाद**के पास **शर्कदरा**में आ पहुंचे । वहां मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमीको मुनि **विद्याविजयको** पंडित पद दिया ।]

बाद **खंभात**के अग्रणी श्रावक और **सोम**श्रेष्ठिके वडे भाई **श्रीमल्ल**के आमन्त्रणसे आचार्यजी **खंभात** आए । **श्रीमल्ल** बडा धनाढ्य था और गुरुभक्त भी । आचार्यजीने **खंभात** आकर संवत् १६५७ वैशाख शुदि चोथके दिन अपने प्रिय शिष्य पंडित **विद्याविजय**को आचार्य-पद दिया और अपनी गद्दीका समर्पण किया । आचार्य-पद देनेके साथ ही **विद्याविजय**मुनिका नाम **विजयदेवसूरि** प्रकट हुआ और वे **विजयसेनसूरि**के पट्टधर बने । यही **विजय-देवसूरि** प्रस्तुत काव्यके नायक हैं । आचार्यपदके प्रसंग पर **खंभात**के श्रावक **श्रीमल्ल**ने बडा उत्सव किया और उत्सवमें दान भोजन वगैरहके लिए बडा भारी खर्च करके, अपने समानधर्मियोंकी अधिकाधिक सेवा की । **पाटणमें** सं० १६५८ पौष वदि ६ गुरुको श्री**विजयदेवसूरि**का वंदना-महोत्सव हुआ । उस महोत्सवके खर्चका सारा भार **सहस्रवीर** श्रावकने अपने ऊपर लिया । **कनकविजय** और **लावण्यविजय** यह दो मुनि **विजयदेवसूरि**के शिष्य थे । एक समयकी बात है कि, **जहांगिरशाह** बादशाहने चरित्र नायक सूरिजीको अपने दरबारमें सादर बुलाए । सूरिजी

---

१ [ ] इस कोष्ठकके अंदरका भाग **विजयदेवसूरिमाहात्म्य**से लिया गया है । वहां यह भाग, सर्ग ६, श्लो० ४५से ११६ श्लोक तक है । ऊपर, इस भागका सार मात्र दिया गया है ।

२ "श्रीमत्पत्तनसद्रङ्गे निरमाद् वन्दनोत्सवम् । सहस्रवीर आनन्दाद् यस्य द्रव्यव्ययाद् घनात्" ॥ ९३ ॥

"षोडशस्य शतस्यास्मिन् अष्टपञ्चाशवत्सरे । षष्ठ्यां पौषस्य कृष्णायां गुरुवारे शुभावहे" ॥ ८४ ॥–श्रीविजयदेवसूरिमाहात्म्य, सर्ग ७ ।

विहार करते हुए दिल्लीको पहुंचे । धर्म-चर्चा और वार्ता-विनोदसे सूरिजीने बादशाहको प्रमोदित किया । सूरिजीकी तपप्रधान उग्र क्रियाओंसे विशेष प्रसन्न होकर बादशाहने सूरिजीको **'महातपा'** का बिरुद दिया । बादशाहके सन्मानसे सूरिजीके विपक्षी–कुपक्षी लोक श्यामसुख हो गये ।

[३] अब विहार करते करते सूरिजी **ईडर** को आए । वहांके राजा **कल्याणमल्लने** **ईडर** आए हुए सूरिजीका बडा स्वागत किया और सूरिजीके प्रवेशोत्सवमें भी अग्र भाग लिया । **ईडरके** चतुर्विध संघमें सर्वत्र आनंदका उल्लास छा गया । **ईडरका** राजमंत्री **सहजू** श्रेष्ठी सूरिजीका उपासक था और बडा धनाढ्य था । **सहजू** शाहने सूरिजीके पास आकर भक्तिविनम्र शब्दोमें कहा कि 'गुरुजी ! आपके पधारनेसे आपकी जन्मभूमि धन्य हुई है । आपके पूर्वज बडे धार्मिक थे । गुरुजी ! अब आपको मेरी विनंती है कि आप अपने योग्य शिष्यको **ईडरमें** अपना पट्टधर बनाकर–अर्थात् आचार्यपद देकर **ईडरनगरको** विशेष धन्य कीजिए । आपके होनहार पट्टधरके आचार्यपदका उत्सव करनेकी मेरी बडी तीव्र भावना है' । सूरिजीने, **सहजू** शाहकी बात ध्यानपूर्वक सुनी और यथासमय उसकी भावना पूर्ण करनेको कहा ।

ईडर आनेके पूर्व ही सूरिजीने अपने योग्य शिष्यको पाठक याने उपाध्याय पद, सं० १६७३ माघमासके शुक्ल पक्षमें उत्तम दिन आनेपर, **पाटणमें**[1] ही दे दिया था । उपाध्याय **कनकविजय** प्रकांड पंडित थे । उपाध्याय होनेके पूर्व ही मुनि **कनकविजय**[2] अपने गुरुसे चौदह विद्या पढ चूके थे, उपांगसमेत एकादशांगीका अवगाहन कर चूके थे और चौदह पूर्वोंका (?) भी अध्ययन कर सारे जैन प्रवचनके पारगामी बन चूके थे । **ईडरके** पास **साबली** नामका ग्राम है, वहां जीवहिंसाकी अधिक प्रवृत्तिको देखकर वहांके श्रावक **रत्नसिंह**[3] **पारखने** सूरिजीसे **साबली** आनेकी विनंती की; और कहा कि–'आपके आनेसे **साबलीमें** चलती हुई जीवहिंसा रुक जायगी और जैन धर्मकी महिमा भी होगी' । सूरिजी **साबली** आए और वहांके ठाकुरको प्रतिबोधित कर जीवहिंसाको रुकवा दी । वहांसे फिर सूरिजी **ईडरको** पधारे । **ईडरके**[4] **नाकरशाहके** पुत्र शाह **सहजूने** आचार्य-पदका बडी धामधूमके साथ उत्सव किया और सूरिजीने अपने शिष्य उपाध्याय श्री**कनकविजयको** सं० १६८२ वैशाख शुदि छठके दिन आचार्य-पद देकर अपना पट्टधर बनाया और उसका नाम **विजयसिंहसूरि** प्रकट किया । अब दोनों सूरिजी महाराज–अर्थात् श्री**विजयदेवसूरि** और श्री**विजयसिंहसूरि** दोनों गुरुशिष्य–**ईडरसे** विहार करके **सीरोहिका (शीरोही)** नगरको पहुंचे, तब **पुंजा-शाहके** पुत्र **पोरवाडशिरोमणि** शाह **तेजपालने** बडा प्रवेशोत्सव किया था । **शीरोही** पहुंचनेके पहले शाह **तेजपालकी** विनंतीसे सूरिजी **आबुकी** यात्राके लिए गए, साथमें शाह **तेजपालके**[5]का संघ भी था । सूरिजीने **शीरोहीमें** सुखपूर्वक चातुर्मास बिताया । उस समय **जालोरका** मंत्री श्री**जयमल्ल** सूरिजीके पास पहुंचा तब सूरिजी विहार योग्य समय होनेपर **स्वर्णगिरिको** चले । वहांका राजा **जालंधरसिंह** था । **स्वर्णगिरिमें** पहुंचने पर राजाने और लोगोंने सूरिजीका बडा आदर किया । उस समयके अधिकाधिक आदर-सत्कारको देखकर श्री**विजदेवसूरिजीको** **खंभातनगर** याद आ गया जहां कि अपने आचार्य-पदका बडा भारी उत्सव हुआ था । इधर ही श्री**विजयसिंहसूरिका** वंदनामहोत्सव हुआ अर्थात् श्री**विजयदेवसूरिजीने** अपने शिष्य श्री**विजयसिंहसूरिको** सिंहासनके ऊपर विराजमान करके **संघसमक्ष** वंदन

---

१ " अथास्ति पत्तनं नाम पत्तनं पत्तनोत्तमम् । रत्नयोनिं यतो लोकास्तद् ब्रुवन्ति च नापरम्" ॥ ३४ ॥
"षोडशस्य शतस्याब्दे त्रिसप्ततितमे रमे । माघमासावदातस्य पक्षस्योत्तमवासरे" ॥ ५६ ॥–विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग ९ ।

२ "अथ शश्वद् गुरोः पार्श्वे सर्वा विद्याश्चतुर्दश । सोपाङ्गैकादशाङ्गीयुक् पूर्वाण्यपि चतुर्दश" ॥ १ ॥–विजयदेवमाहात्म्यसर्ग ९ ।

३ "विजयदेवसूरीन्द्रं वसन्तं तत्र सांप्रतम् । प्रणत्य रत्नसिंहोऽयं श्राद्धो विज्ञपयत्यथ" ॥ ८४ ॥–विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग ९ ।

४ "व्यवहारी सदाहारीश्वरेश्वरपुरस्कृतः । तत्र पावित्रभद्रात्रः श्रेष्ठी वसति नाकरः" ॥ ६८ ॥–विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग ९ ।

५ "प्रत्यर्बुदाचलं तीर्थं तेजपालस्ततोऽचलत् । प्रत्यहं वन्दमानोऽमा समायान्तं गणाधिपम्" ॥ २५३ ॥–विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग ९ ।

विहार करते हुए दिल्लीको पहुंचे । धर्म-चर्चा और वार्ता-विनोदसे सूरिजीने बादशाहको प्रमोदित किया । सूरिजीकी तपप्रधान उग्र क्रियाओंसे विशेष प्रसन्न होकर बादशाहने सूरिजीको **'महातपा'** का बिरुद दिया । बादशाहके सन्मानसे सूरिजीके विपक्षी–कुपक्षी लोक श्याममुख हो गये ।

[३] अब विहार करते करते सूरिजी **ईडर** को आए । वहांके राजा **कल्याणमल्लने** **ईडर** आए हुए सूरिजीका बडा स्वागत किया और सूरिजीके प्रवेशोत्सवमें भी अग्र भाग लिया । **ईडर**के चतुर्विध संघमें सर्वत्र आनंदका उल्लास छा गया । **ईडर**का राजमंत्री **सहजू** श्रेष्ठी सूरिजीका उपासक था और बडा धनाढ्य था । **सहजू** शाहने सूरिजीके पास आकर भक्तिविनम्र शब्दोमें कहा कि 'गुरुजी ! आपके पधारनेसे आपकी जन्मभूमि धन्य हुई है । आपके पूर्वज बडे धार्मिक थे । गुरुजी ! अब आपको मेरी विनंती है कि आप अपने योग्य शिष्यको **ईडर**में अपना पट्टधर बनाकर–अर्थात् आचार्यपद देकर **ईडरनगर**को विशेष धन्य कीजिए । आपके होनहार पट्टधरके आचार्यपदका उत्सव करनेकी मेरी बडी तीव्र भावना है' । सूरिजीने, **सहजू** शाहकी बात ध्यानपूर्वक सुनी और यथासमय उसकी भावना पूर्ण करनेको कहा ।

ईडर आनेके पूर्व ही सूरिजीने अपने योग्य शिष्यको पाठक याने उपाध्याय पद, सं० १६७३ माघमासके शुक्ल पक्षमें उत्तम दिन आनेपर, **पाटण**में ही दे दिया था । उपाध्याय **कनकविजय** प्रकांड पंडित थे । उपाध्याय होनेके पूर्व ही मुनि **कनकविजय** अपने गुरुसे चौदह विद्या पढ चूके थे, उपांगसमेत एकादशांगीका अवगाहन कर चूके थे और चौदह पूर्वोंका (?) भी अध्ययन कर सारे जैन प्रवचनके पारगामी बन चूके थे । **ईडर**के पास **सावली** नामका ग्राम है, वहां जीवहिंसाकी अधिक प्रवृत्तिको देखकर वहांके श्रावक **रत्नसिंह पारखने** सूरिजीसे **सावली** आनेकी विनंती की; और कहा कि–'आपके आनेसे **सावलीमें** चलती हुई जीवहिंसा रुक जायगी और जैन धर्मकी महिमा भी होगी' । सूरिजी **सावली** आए और वहांके ठाकुरको प्रतिबोधित कर जीवहिंसाको रुकवा दी । वहांसे फिर सूरिजी **ईडर**को पधारे । **ईडरके**[4] **नाकर**शाहके पुत्र शाह **सहजूने** आचार्य-पदका बडी धामधूमके साथ उत्सव किया और सूरिजीने अपने शिष्य उपाध्याय श्री**कनकविजय**को सं० १६८२ वैशाख शुदि छठके दिन आचार्य-पद देकर अपना पट्टधर बनाया और उसका नाम **विजयसिंहसूरि** प्रकट किया । अब दोनों सूरिजी महाराज–अर्थात् श्री**विजयदेवसूरि** और श्री**विजयसिंहसूरि** दोनों गुरुशिष्य–**ईडर**से विहार करके **सीरोहिका** (**शीरोही**) नगरको पहुंचे, तब **पुंजा**-शाहके पुत्र **पोरवाड**शिरोमणि शाह **तेजपालने** बडा प्रवेशोत्सव किया था । **शीरोही** पहुंचनेके पहले शाह **तेजपाल**की विनंतीसे सूरिजी **आबुकी** यात्राके लिए गए, साथमें शाह **तेजपालका** संघ भी था । सूरिजीने **शीरोहीमें** सुखपूर्वक चातुर्मास बिताया । उस समय **जालोर**का मंत्री श्री**जयमल्ल** सूरिजीके पास पहुंचा तब सूरिजी विहार योग्य समय होनेपर **स्वर्णगिरि**को चले । वहांका राजा **जालंधरसिंह** था । **स्वर्णगिरिमें** पहुंचने पर राजाने और लोगोंने सूरिजीका बडा आदर किया । उस समयके अधिकाधिक आदर-सत्कारको देखकर श्री**विजदेवसूरि**जीको **खंभातनगर** याद आ गया जहां कि अपने आचार्य-पदका बडा भारी उत्सव हुआ था । इधर ही श्री**विजयसिंहसूरि**का वंदनामहोत्सव हुआ अर्थात् श्री**विजयदेवसूरि**जीने अपने शिष्य श्री**विजयसिंहसूरि**को सिंहासनके ऊपर विराजमान करके संघसमक्ष वंदन

---

१ " अथास्ति पत्तनं नाम पत्तनं पत्तनोत्तमम् । रत्नयोनिं यतो लोकास्तद् ब्रुवन्ति च नापरम्" ॥ ३४ ॥
"षोडशस्य शतस्याब्दे त्रिसप्ततितमे रमे । माघमासावदातस्य पक्षस्योत्तमवासरे" ॥ ५६ ॥–विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग ९ ।

२ "अथ शश्वद् गुरोः पार्श्वे सर्वा विद्याश्चतुर्दश । सोपाङ्गैकादशाङ्गीयुक् पूर्वाण्यपि चतुर्दश" ॥ १ ॥–विजयदेवमाहात्म्यसर्ग ९ ।

३ "विजयदेवसूरीन्द्रं वसन्तं तत्र सांप्रतम् । प्रणत्य रत्नसिंहोऽयं श्राद्धो विज्ञपयत्यथ" ॥ ८४ ॥–विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग ९ ।

४ "व्यवहारी सदाहारीश्वरेश्वरपुरस्कृतः । तत्र पवित्रभृद्गात्रः श्रेष्ठी वसति नाकरः" ॥ ६८ ॥–विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग ९ ।

५ "प्रत्यर्बुदाचलं तीर्थं तेजपालस्ततोऽचलत् । प्रत्यहं वन्दमानोऽमा समायान्तं गणाधिपम्" ॥ २५३ ॥–विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग ९ ।

उत्सव किया । **तैलंगदेश**के वादशाहने श्रीसूरिजीके उपदेशसे गौहत्याका निषेध किया । वहांसे सूरिजी फिर **भाग्यनगरी**को आए और वहां अनेक प्रकारके नये नये उत्सव हुए । वहांसे सूरिजी **बीजापुर**को गए और वहां भी धर्मका बडा प्रभाव हुआ । बादशाहने बंदियोंको छोड दिए । यहां भी साथमें आए हुए श्रावक **देवचंद्र**ने बडा भारी दानप्रवाह बहाया । सूरिजीने कवि श्री**वीरविजयजी**को 'पंडित'का पद दिया । अब फिर श्री**अंतरिक्षपार्श्वनाथ**के दर्शन कर सूरिजी **बुरानपुर**को आए और वहां चातुर्मास बिताया । **गूजरात**के संघका आग्रह होनेसे फिर वहांसे सूरिजी **गूजरात**को चले । विहार करते करते सूरिजी **सूरत**को आए । **गूजरात**देश तो मोरकी तरह सूरिजीके आगमनकी प्रतीक्षामें था ही ।

[६] अब विहार करते करते सूरिजी **गन्धपुर (गंधार)** बंदरको पहुंचे । वहां **अमदावाद**से और **अणहिल्लवाड**से अनेक लोक सूरिजीके वंदनको गए । **धनजी शाह** और **रतनजी शाह**के आग्रहसे सूरिजी वहां ठहर गये । **साहिबदे**तनयने और **अखेशाह**ने बडा उत्सव किया और सूरिजीने अपने प्रिय शिष्य पं० **वीरविजय मुनि**को[1] सं० १७१० वैशाख शुदि १० मीके दिन आचार्यपदसे विभूषित करके उसका नाम **विजयप्रभसूरि** प्रकट किया । इसके बाद सूरिजी फिर **सूरत**को चले । वहांसे सूरिजी **अहमदपुर**को (अमदावादको ?) गए । **धनजी शाह** नामका श्रावक सूरिजीका बडा उपासक था ।

[७] **धनजी शाह** और उसकी पत्नी **धनश्री**ने मिल कर बहुत बडा उत्सव किया । **महमूंदिका**की (रुपये रुपयेकी) प्रभावना की । **विजयदेवसूरि**जी और **विजयप्रभसूरि**जी दोनों **शाहपुर**में आए । **शाहपुर अमदावाद**का एक विभाग है । **अमदाबाद**में चातुर्मास करके सूरिजीने **विमलगिरि**की यात्राके लिए प्रस्थान किया । साथमें **रायचंद्र** वगैरह भक्तिमान् श्रावक भी चले थे । वहांसे सूरिजी **ऊना**को गए और वहां अपने प्रगुरु श्री**हीरविजयजी**की समाधिका दर्शन किया और यहां ही श्री**विजयदेवसूरिजी**ने भी समाधि ली । संवत् १७१३ आषाढ शुक्ल एकादशीके दिन प्रातःकालको श्री**विजयदेवसूरिजी** स्वर्गधामको गए । अपने गुरुके विदेहवाससे श्री**विजयप्रभसूरि**जीको बडा खेद हुआ । श्रावक **रायचंद्र**ने वहां एक बडा विहार बनवाया और उसके ऊपरके ध्वजदंडमें धजा चढाई । **ऊना**के पास **दीवबंदर**में श्री**विजयप्रभसूरि**जीने संघके आग्रहसे दो चातुर्मास बिताये । अब श्री**विजयप्रभसूरि देवपाटण** और **जूनागढ**में चातुर्मास करके **पोरबंदर**में आए । फिर वहांसे **अब्धिकूल (वेरावळ)** को गए । वहांसे सूरिजी **विमलगिरि**की यात्राके लिए प्रस्थित हुए । साथमें **वेरावळ** और **पोरबंदर**का श्रावक-समूह भी था । यहांसे सूरिजी **घनौघ** (आधुनिक घोघा ?) नामक ग्राममें आए और पर्युषणाका महापर्व वहां ही बिताया । वहांपर जसूनामकी एक भक्त श्राविकाने प्रतिष्ठोत्सव किया । यहांसे सूरिजी **गूजरात**की ओर चले और **अमदावाद** पहुंचे । वहां, सूरिजीने **बीबीपुर** नामके **अमदावाद**के उपपुरमें रहकर पर्युषणाके महापर्वकी आराधना की । यहांसे सूरिजी श्री**शंखेश्वरपार्श्वनाथ**के दर्शनके लिए प्रस्थित हुए[2] ।

---

१ "पट्टे न्यस्तः स इह गुरुणा बन्दिरे गन्धपुर्याम्, खैकाद्रीला १७१० शरदि समहं राधसम्यग्दशम्याम्" ॥–मेघदूतसमस्यालेख, श्लो० १०६ ।

२ प्रस्तुत **देवानंदाभ्युदय**महाकाव्यमें सात सर्गमें मुख्यरूपसे श्री**विजयदेवसूरि**जीका और आनुषङ्गसे श्री**विजयप्रभसूरि**जीका वृत्तांत आया है । काव्य, माघकी समस्यापूर्तिरूप है इससे इसमें समस्याके पूरणका ही मुख्य लक्ष्य रक्खा गया है । इसी कारणसे श्री**विजयदेवसूरि**जीका वृत्तांत भी इसमें बहुत संक्षेप से आया है । सविस्तर जिज्ञासुओंको सूचना है कि–वे, **विजयदेवसूरि**जीका विशालवृत्तांत देखनेके लिए **खरतरगच्छीयश्रीश्रीवल्लभपाठक**विरचित **श्रीविजयदेवमाहात्म्यको** आद्यन्त पढें ।

प्राप्ता यस्य प्रसादेन विद्या श्रेयस्करी मया ।
इदमर्प्यते तस्मै श्री-विजयधर्मसूरये ॥

कृतज्ञो बेचरदासः ।

महोपाध्यायश्रीमन्मेघविजयविरचितं

[माघमहाकाव्यसमस्यारूपं]

॥ देवानन्दमहाकाव्यम् ॥

प्रथमः सर्गः ।

श्रियः प्रियः पार्श्वजिनेश्वरः श्रियं तनोतु पूर्णैन्दवमण्डलाननः ।
ननाम वामां समवेक्ष्य यं श्रितं हिरण्यगर्भाङ्गभुवं[१] मुनिं[२] हरिः[1] ॥ १ ॥
जयत्ययं श्रीविजयादिदेववाक्-प्रभुर्दधत् तीव्रमहातपोमहः ।
श्रिया परब्रह्मसमं स्मरेन्धने प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः[2] ॥ २ ॥
किमैन्द्रवज्रं रविमण्डलं त्विषा किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः[3] ॥

[षट्पदी]

सरस्वतीं पीनपयोधरां[३] स्तुमः क्रमद्वया[४]म्भोजलसत्सितच्छदाम्[५] ।
यदाश्रये[६] स्यान्नृपतेः कविर्वचः-क्रमादमुन्नारद[७] इत्यबोधिसः[८][4] ॥ ३–४ ॥

ग्रन्थकारकृतानि टिप्पणानि

१ 'हिरण्यगर्भाङ्गभुवम्' हिरण्यं सुवर्णम् तद्वन्निर्मला गर्भावयवभूः—ताम् । "तित्थयरमायरो पच्छन्नगब्भाओ जर-रुहिर-कल्लाणि य न हवंति" इति आवश्यकचूर्णौ निर्युक्तौ ।

२ 'मुनिम्' ज्ञानयुतम् "समणे भगवं महावीरे" इत्यादिपाठात् ।

३ 'पीनपयोधराम्' जिनवाक्पक्षे पीनः पुष्टः पयोधरो मेघः ग्रन्थकृत् यया ।

४ 'क्रमद्वयाम्भोजलसत्सितच्छदाम्' क्रमद्वयम्—परंपरया सूत्रा-ऽर्थग्रहणरूपम् ।

५ सितच्छदाः श्वेताम्बराः ।

नदीपक्षे पीनं पयो-जलम्-धरति इति । क्रमद्वयेन पद्मे क्रीडन्मरालाम् ।

६ 'यदाश्रये' यस्याः सरस्वत्याः आश्रयः यदाश्रयः ।

७ '-क्रमादमुन्नारद' अमुद् अहर्षः तस्य नारः विक्षेपः ध्वंसः हर्षः तं दत्ते इति ।

८ 'इत्यबोधिसः' इत्या प्राप्तव्या बोधिसा ज्ञानलक्ष्मीर्यस्य सः । इण् गतौ धातोः क्यप् ।

संपादककृतानि टिप्पणानि

1 हिरण्यवत् समुज्ज्वला गर्भाङ्गभूः गर्भाशयस्थानं यस्याः ताम्—'ईदृशीं वामां मातरं श्रितम्—आश्रितं यं पार्श्वजिनं मुनिं समवेक्ष्य हरिः—इन्द्रः ननाम—इति ।

'हिरण्यगर्भाङ्गभुवम्' इत्यादि माघे प्रथमे सर्गे प्रथमश्लोके चतुर्थः पादः ।

2 'महः' इति कर्मकारकम् ।

'प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनम्' इत्यादि मा० प्र० स० श्लो० २ द्वितीयः पादः ।

3 'किमेतदित्या-' इत्यादि मा० प्र० स० श्लो० २ चतुर्थः पादः ।

4 अत्र 'पयोधर' शब्दोल्लेखेन ग्रन्थकृत् स्वाभिधां सूचितवान् पयोधरो मेघः, ग्रन्थकारश्च **मेघविजयः** ।

'षट्पदी' नाम छन्दः । माघकाव्यटीकाकृत् पण्डितमल्लिनाथकोलाचलः कथितवान् यत्-"दिवाकरस्तु वृत्तरत्नाकरटीकायां प्रथमपठितेन ।

"द्विधाकृतात्मा किमयं दिवाकरो विधूमरोचिः किमयं हुताशनः"

इति चरणद्वयेन सह इममेव श्लोकं षट्पदच्छन्दस उदाहरणमाह" । इति समस्याकृताऽपि 'षट्पदी' इति सूचितम् ।

यस्याः सरस्वत्याः आश्रये वचःक्रमात् कविः, नृपतेः अमुन्नारदः—हर्षदः स्यात् पुनश्च इत्यबोधिसः—यस्य बोधिसा ज्ञानलक्ष्मीः इत्या प्राप्तुं योग्या अस्ति ईदृशः कविः । [अमुद्+नार+द-अमुन्नारद] [इत्य+बोधि+सा-इत्यबोधिस]

माघे तु 'क्रमादमुं नारद इति-अबोधि सः' [प्र० स० श्लो० ३ चतुर्थः पादः] इति पदविभागः ।

स[1]दक्षजातिप्रणयं कलाधरं धरन्तमुच्चैर्भुवनोपकारकम् ।
यशोऽर्जुनं सज्जनमाश्रये श्रिये स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना[1] ॥ ५ ॥
असज्जनं प्राप्य गुणाधिकाऽपि गौ[2]र्भवेदसो[3]मालतयाऽतिदुर्गमा ।
सु[4]सीमतां नैति र[5]सेऽपि बिभ्रतं धरा धरेन्द्रं व्रततीततीरिव[2] ॥ ६ ॥
प्रभोः प्रणेतुं गुणगौरवं स्तवं गु[6]रुं क[7]विं वा न वितर्कये क्षमम् ।
स[8]दा-सुरासक्तमतिं स्वकान्तिभिर्विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम्[3] ॥ ७ ॥
तथापि गौरं चरितैर्गुरुं स्तुवन् स[9]-मौक्तिकश्रीफललिप्सुरस्म्यहम्[4] ।
तपोमहोभिः सहितं समुन्नतं घनं घनान्ते तडितां गुणैरिव ॥ ८ ॥
कृपा[10]श्रयात् स्वीयगुरोः प्रसादतः स्वसा[11]ध्यसिद्धिं श्रयिताऽस्मि निःश्रमम् ।
समीरणाद् रेणुरुपैति सज्जितं कुथे[12]न नागेन्द्रमिवैन्द्रवाहनम्[5] ॥ ९ ॥
अथात्र जम्बूपपदेऽस्ति भारतं प्रभारतं द्वीपकुलप्रदीपके ।
महोदयं ध्यायदिवाऽस्य गङ्गया विभातमच्छस्फुटिकाक्षमालया[6] ॥ १० ॥

१ 'सदक्षजातिप्रणयम्' दक्षजातिः पण्डितः, पक्षे पार्वत्याम् अतिप्रणयः स्नेहः ।

२ 'गौः' गौर्वाणी भूर्वा ।

३ 'असोमालतया' असोमाल्तया जातौ एकवचनम् । असोमालता कठिनता तया ।

४ 'सुसीमताम्' शैत्यम् ग्रामसीमतां वा ।

५ 'रसेऽपि' रसे जले शृङ्गारादौ वा ।

६ 'गुरुम्' गुरोः देवसेव्यत्वेन उपमा ।

७ 'कविम्' शुक्रस्य गौरत्वेन ।

८ 'सदा-सुरासक्तमतिम्' देवाः सुराः, पक्षे असुराः, बलभद्रपक्षे सुरा मद्यम् ।

९ 'स मौक्तिकश्रीफललिप्सुरस्म्यहम्' स अहम्-जाड्यपात्रम् । मुक्तिसंबन्धिश्रिया युक्तफले । यद्वा समग्र-औक्तिकस्य वाचिस्यक फले लिप्सुः । "तृन्नुदन्त-" [२।२।९०। हैम०] इत्यादिना षष्ठीनिषेधात् ।

१० 'कृपाश्रयात्' कृपा इति स्वीयगुरोः श्री**कृपाविजय** इति नामसूचा ।

११ 'स्वसाध्यसिद्धिम्' सिद्धिमिति च **श्रीसिद्धिविजयं** श्रयिताऽस्मि ।

१२ 'कुथेन' "कुथः स्यात् करिकम्बलः"-इत्यनेकार्थ० श्लो० १४ । ["कुथः कुशः, कुथः कीटः, प्रातःस्नानी द्विजः कुथः" इति अनेकार्थमञ्जरी श्लो० १४-श्लोकाधि० ।]

1 'स्फुटोपमम्' इत्यादि मा० प्र० स० श्लो० ४ चतुर्थः पादः

2 यथा व्रततीततीः बिभ्रतं धरेन्द्रं प्राप्य गुणाधिकाऽपि धरा अतिदुर्गमा रसरहिता भवति तथा गुणाधिकाऽपि वाणी असज्जनं प्राप्य असोमाल्तया अतिदुर्गमा भवति पुनश्च रसेऽपि सुसीमतां न एति ।

माघे तु 'धराधरेन्द्रम्' इति एकं पदम्—प्र० स० श्लो० ५ चतुर्थः पादः ।

3 बलभद्रो हि सुरायां सदा आसक्तः इति प्रसिद्धम् अतः सदासुरासक्तमतिं बलदेवम् इति भावः ।

विडम्बयन्तमित्यादि—मा० प्र० स० श्लो० ६ चतुर्थपादः ।

4 'समौक्तिक-' इति पदस्य १ 'सम+औक्तिक-' अथवा २ 'स+मौक्तिक-' अथवा ३ 'सः+मौक्तिक-' इति त्रिधा पदविभागः । १ समानि समग्राणि औक्तिकानि, २ मौक्तिकेन सहितम्, ३ सः—अहम्—ग्रन्थकारः मौक्तिकयुक्तश्रीफललिप्सुः इति च अनुक्रमेण अर्थो बोध्यः ।

'घनं घनान्ते तडितां गणैरिव' इति मा० प्र० स० श्लो० ७ चतुर्थपादः । अत्र तु 'गणैः' स्थाने लिपिकारप्रमादात् 'गुणैः' पाठः प्रतिभाति ।

5 'कृपा' शब्देन ग्रन्थकारः स्वं गुरुं **कृपाविजयं** स्मरति ।

'कुथेन' इत्यादि मा० प्र० स० श्लो० ८ चतुर्थपादः । माघे अत्र पादे 'इन्द्रवाहन' शब्दः प्रयुक्तः । अत्र तु 'ऐन्द्रवाहन' शब्द इति भेदः ।

6 'विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया' इति मा० प्र० स० श्लो० ९ चतुर्थपादः । अत्र तु 'विभान्त-' स्थाने 'विभात-' इति तथा 'स्फटिक-' स्थाने 'स्फुटिक-' इति च दृश्यते । चित्रकाव्ये अनुस्वार-विसर्गयोः सतोरपि अनुच्चारणं न दोषावहम् इति कविसमयात् 'विभान्त-' पदं सानुस्वारं सदपि अत्र समस्यायां ग्रन्थकारेण तत् निरनुस्वारं विवक्षितम् । 'स्फुटिक' शब्दोऽपि स्फटिकपर्यायो भवेत् अथवा प्रमादात् 'स्फटिक' स्थाने 'स्फुटिक' इति जातम् ।

स[१] गूर्जरत्रा इति नीवृतां वरश्चकास्ति तस्मिंस्त्रिदिवं सचित्रयन् ।
सदोड्डुनेत्रैरदसीयभासनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः[1] ॥ ११ ॥
[२]अनन्तपट्टे खटिकाक्षरैर्ग्रहच्छलादमुष्येव विलिख्य संस्थितिम् ।
संस्कर्तुमभ्यस्यति विश्वकृत् सदा पदं महैन्द्रालयचारुचक्रिणः[2] ॥ १२ ॥
सरस्यतिस्मेरपयोजकाननान्निशास्थितोऽलिप्रकरः समुत्पतन् ।
इहाऽऽबभौ किं रविनारदागतेर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः[3] ॥ १३ ॥
यदीश्वरस्यारिनिसूदनात्मसु श्रुतेषु गीतेषु वुधैरधःकृतौ ।
सुरैः समं वा दनुजैर्विसर्जितौ सुतेन[३] धातुश्चरणौ भुवस्तले[4] ॥ १४ ॥
समुद्रमारान्मणिढौकनाकृतेऽभ्युपेतमेषोऽर्चयति द्रुमैः सुमैः ।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नाऽपुण्यवतां मनीषिणः[5] ॥ १५ ॥
वदन्ति केदारगणाः खरे[४]खणैरितीव सद्रेखितविश्ववास्तवं ।
दिवः समादाय [५]मदाद[६]मुं पुमांश्चिरंतनस्तावदभिन्यवीविशत्[6] ॥ १६ ॥
विशामसौ श्रीतनयाँभिनन्दनः समुन्नतज्योतिरपास्ततापनः ।
महौषधिप्रत्तरुचिः समुद्गतेरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम्[7] ॥ १७ ॥
स्त्रीराज्यभूमौ युवतीजना इवोद्गृहीतपत्रासय इक्षुयष्टयः ।
प्रीणन्ति सौवाङ्गनिपीडनै रसैर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः[8] ॥ १८ ॥
इहास्ति शङ्खेश्वरतीर्थमद्भुतं सनायकं पार्श्वजिनाभिभूभुजा ।
भुजंगमानां यमुपप्लवे भजन् नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः[9] ॥ १९ ॥
श्रियं स शङ्खेश्वरपार्श्वतीर्थकृद् दधेऽर्थितार्थप्रथनाद् मरुत्तरोः ।
अचूचुरच्चैत्यमचर्च्यचारुतां सुमेरुशृङ्गस्य तदा तदासनम्[10] ॥ २० ॥

१ 'स' स इति प्रसिद्धः ।
२ 'अनन्तपट्टे' अनन्तम् नभः ।
३ 'सुतेन धातुश्चरणौ' धातुः सुतेन ब्रह्मदत्तेन नारदेन वा— देवैः सह कृतः नारदेन हेतुभूतेन सुरैः असुरैः समं कृतः तथा असुरैः सुरैः समं कृतः तौ द्वावपि ।
४ 'खरेखणैः' हलोल्लेखनैः ।
५ 'मदादमुं' मदाद् अहंकारात् ।
६ अमुं देशं विधिर्मदात् दिवः अभिनिवेशितवान् ।
७ 'श्रीतनयाभिनन्दनः' कन्दर्पः, पक्षे श्रीः लक्ष्मीः, तनयाः पुत्राः तैर्वर्धनः ।
८ 'उद्गृहीतपत्रासयः' उद्गृहीताः पत्राणि एव असयः खड्गाः यैस्ते ।

1 सचित्रयन्–त्रिदिवं सचित्रं साश्चर्यं कुर्वन् इति भावः— सह चित्रेण सचित्रः–सचित्रं करोति सचित्रयति, अस्य वर्तमान-कृदन्ते प्रथमैकवचने सचित्रयन् ।

'अवेक्षमाणम्' इत्यादि मा० प्र० स० श्लो० १० चतुर्थपादः ।

2 'खटिका' गूजरातीभाषायां 'खडी' इति प्रसिद्धा या बालैर्लेखशालायां स्वलिपिपरिकर्मणि उपयुज्यते ।

'पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः' इति मा० प्र० स० श्लो० ११ चतुर्थपादः । अत्र तु 'महेन्द्र' स्थाने 'महैन्द्र' इति तथा 'महैन्द्रालयचारुचक्रिणः' इति एकं पदम् इति विभेदः ।

3 'जवेन' इत्यादि मा० प्र० स० श्लो० १२ चतुर्थपादः ।

रविनारदागतेः रविवत् तेजस्वी पूज्यो वा यो नारदः तस्य आगतेः–आगमनात् इति भावः ।

4 'सुतेन' इत्यादि मा० प्र० स० श्लो० १३ चतुर्थपादः ।

5 अत्र श्लोके पादद्वयं समस्यारूपेण गृहीतं कविना । तच्च मा० प्र० स० श्लो० १४ तृतीय–चतुर्थपादौ । माघे 'नापुण्यकृताम्' इति पाठभेदः ।

6 मा० प्र० स० श्लो० १५ चतुर्थपादः ।

7 मा० प्र० स० श्लो० १६ चतुर्थपादः ।

8 मा० प्र० स० श्लो० १७ चतुर्थपादः ।

9 मा० प्र० स० श्लो० १८ चतुर्थपादः ।

10 मा० प्र० स० श्लो० १९ चतुर्थपादः ।

जिनप्रभुः संकटकोटिकिट्ट(?)कृत् पुरःस्थदीपैः प्रतिबिम्बितैस्तनौ ।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाऽम्भसां निधिः[1] ॥ २१ ॥
करम्बिताः पादनखांशुराशिभिर्बभुः प्रभोर्गौरवपुःप्रभाभराः ।
प्रदीपदीप्रद्युतिपुञ्जसंयुजस्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः[2] ॥ २२ ॥
प्रसादयन् मर्त्यगणः सविस्मयस्तथाऽपरोऽमर्त्यगणोऽनिमेषदृक् ।
प्रभोः पुरोऽन्योऽन्यनिषक्तरोचिषौ तदेकवर्णाविव तौ बभूवतुः[3] ॥ २३ ॥
अयं हि कैवल्यधरः स्वसेविनां ददाति कैवल्यपदं न तन्महत् ।
तदद्भुतं यद्ददते नृणां सृजँस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः[4] ॥ २४ ॥
दशावतारः कमलोपमाननः फणीश्वरोत्सङ्गविनिर्मितासनः ।
जिनः प्रभावान्नरकान्तकारकः स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत्[5] ॥ २५ ॥
जगत्पवित्रे विषयेऽत्र सन्त्यतः पराणि तीर्थान्यथ किं पुनर्विधिः ।
[१]अमुं चकारेति धियेव मा हरः शुचिस्मितां वाचमे[२]-वोचदच्युतः[6] ॥ २६ ॥
मदादनम्राननमार्जुने[३]ऽर्जुनी[४] पयः किरन्ती चरति प्रतिस्थलम् ।
पिबन् यथार्थाभिध[५] एष तन्महैर्व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्[7] ॥ २७ ॥
अथास्त्यमुष्मिन् नगरं गुरोर्गिरेरिलादिदुर्गाख्यमुपत्यकाश्रितम् ।
त्रिविष्टपस्यापि च यन्मणीगृहैरदस्त्वया[६] नुन्नमनुत्तमं तमः[8] ॥ २८ ॥
कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना ।
पुरप्रदेशः स ऋचामिव ध्वनिर्निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव[9] ॥ २९ ॥
हरिप्रियां या नगरी गरीयसीं सदा समव्याप्यतयेव[७] शिश्रिये ।
कथञ्चिदैकात्म्यवशात् तया पुनर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते[10] ॥ ३० ॥
पुरन्दरस्यापि पुरं प्रणूयते पुराणविद्भिर्निजवृत्तिसिद्धये ।

---

१ 'अमुं चकारेति धियेव मा हरः' विधिः अमुं देशम्— इति धिया इव चकार । 'इति' इति किम् ? अच्युतः कृष्णः, हरो रुद्रः, मा शुचिस्मितां हास्यवाणीम्, अवोचत् अवादीत् ।

२ 'माङ्' योगे अडभावेऽपि 'अ' इति अव्ययं विस्मये । यद्वा 'मा' इति अव्ययं भिन्नम् ।

३ '–नम्राननमार्जुने' आर्जुनं तृणगणः ।

४ 'अर्जुनी' गौः ।

५ 'यथार्थाभिध एष' गूर्जराणां गोप्रधानत्वेन तत्त्राणात् यथार्थनामा ।

६ '–रदस्त्वया' अया लक्ष्म्या ।

७ 'समव्याप्यतयेव' या नगरी लक्ष्मीं शिश्रिये, पुनः गिरः २–३ शिश्रिये । तया लक्ष्म्या वाणीनामैक्यात् सर्वपदार्थानामभिधेयत्वात् । यत्र यत्र निषिद्धत्वं तत्र तत्र अधर्मत्वम्, यत्र यत्र अधर्मत्वं तत्र तत्र निषिद्धत्वम् इति समव्याप्तिः । तथा यत्र लक्ष्मीः स्वर्णादिर्भावः तत्र तन्नामशब्दः, यत्र यत्र शब्दः तत्र तत्र तद्वाच्योऽर्थः इति समव्याप्तिः । वागर्थयोः सदा संपृक्तत्वात् ।

---

1 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ २० तृतीय–चतुर्थपादौ अत्रापि तावेव तृतीय–चतुर्थपादौ ।

2 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ २१ चतुर्थपादः ।

3 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ २२ चतुर्थपादः ।

4 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ २३ चतुर्थपादः ।

5 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ २४ चतुर्थपादः ।

6 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ २५ चतुर्थपादः ।

7 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ २६ चतुर्थपादः ।

8 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ २७ चतुर्थपादः ।

9 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ २८ माघस्य पूर्वार्धम् अत्रापि पूर्वार्धम् । माघस्य चतुर्थपादः अत्रापि स एव ।

10 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ २९ चतुर्थपादः ।

न चास्त्यमुष्या नगरीति मेऽकरोत् गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम्[1] ॥ ३१ ॥
सुवर्णसालोज्वलयोगपट्टभृत् कृताभिषेकं निशि चान्द्रवारिभिः ।
स्वबिम्बिताकाक्षगुणं दधत् पुरं किमस्ति कार्यं गुरुयोगिनामपि[2] ॥ ३२ ॥
उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैर्विहारवृन्दं विहितं सुदर्शनैः ।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनः स्वमुच्चकैर्दर्शयतीव केतुभिः[3] ॥ ३३ ॥
नभोगभावात् त्रिदिवं मुनीश्वरैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन ।
अतोऽधिकं यत्र जभन्तमुज्जगुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः[4] ॥ ३४ ॥
यदाश्रयश्रेणिशिखासुखाश्रयात् सदा वसन्ति द्युसदामिहाश्रयाः ।
दधात्यतोऽधः कथमप्यतिश्रमैरहीश्वरः स्तम्भशिरस्सु भूतलम्[5] ॥ ३५ ॥
शिवैकसौहार्दधरैर्धनाधिपैर्भृतापि या पुण्यजनैरलङ्कृता ।
प्रभाविशेषादरणैर्वृषाश्रयैर्भवान् भवोच्छेदकरैः करोत्यधः[6] ॥ ३६ ॥
वसद्भिरस्यां मनुजैर्विसर्जितः स्रगादिनिर्माल्यभरोऽपि यत्र सा ।
सुगन्धदानात् पवनैर्विदेशगैर्गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया[7] ॥ ३७ ॥
पुरं पुरन्ध्रीचललोचनाञ्चलैः स्मरं यदुज्जीवयते हरार्दितम् ।
फणाभृतां पूस्त्वमिहेदृशं मुदः पदं दृशः स्याः कथमीशमादृशाम्[8] ॥ ३८ ॥
यदम्बुजाक्षीर्निशि चन्द्रशालिकाविलासिनीर्भोक्तुमिव स्मरातुराः ।
सुराः श्रयन्तेऽन्वहमृक्षलक्षतः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः[9] ॥ ३९ ॥
सरोभिरुन्निद्रपयोरुहाननैर्व्यधायि याऽऽमोदधरैर्धरश्रियः ।

---

१ 'गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम्' अमुष्याः पुर्याः गुरुस्तवा अधिकवर्णनयोग्या नगरी नास्ति इति आगमः सिद्धान्तः धृष्टताम् अकरोत् ।

२ 'स्वबिम्बिताकाक्षगुणम्' स्वस्मिन् संक्रान्तसूर्यानुबिम्बरूपाक्षमालां दधत् ।

३ 'नभोगभावात् त्रिदिवं मुनी–' भोगविचारे त्रिदिवम् अतः पुराद् नाधिकम् यतः तत्र नभोगभावः स्पष्टः—नभोगा देवाः तेषां भावः अखिलम् ।

४ तदेव आह–'यत्र जभन्तमुज्जगुः' यत्र पुराणपुरुषं कृष्णम् आं लक्ष्मीम् भजन्तम्—जभन्तम्—पुराविदः उज्जगुः । एतेन भोगचातुर्यं तत्र नास्ति इति भावः ।

५ 'त्वाम्' तु+आं लक्ष्मीम् ।

६ 'शिवैकसौहार्दधरै–' शिवं मोक्षः सदाशिवो वा ।

७ 'पुण्यजनै–' पुण्यजनाः धार्मिकाः यक्षा वा ।

८ 'प्रभाविशेषा–' प्रभावी यः शेषो नागराजः तस्य आदरैः ।

९ 'वृषाश्रयै–' वृषः धर्मः वृषभश्च ।

१० 'भवान्' भवान् एकादशरुद्रान् जयति ।

११ 'त्वया–' तु+अया—अया विरुद्धा भूमिः, सुगन्धलक्ष्म्या वा ।

१२ 'स्याः' हे भोगावति ! त्वम् ईदृशं नेत्रमुदः स्थानं कथं स्याः । 'स्याः' इति क्रियापदम् ।

१३ 'कथमीशमादृशाम्' ईशस्य रुद्रस्य माया लक्ष्म्या दृक् दर्शनं येभ्यस्ते–तेषां फणाभृताम्—ईशालंकारकारिणाम् ।

१४ 'सरोभि–' सरोभिः या पर्वतलक्ष्म्याः तिरस्क्रिया व्यधायि, तया पर्वतश्रिया सा तिरस्क्रिया प्रत्युत व्यधायि । किंभूतया तया ? द्विपद्विषः उपास्यया सेव्यया ।

---

1 मा० प्र० स० श्लो० ३० चतुर्थपादः ।

2 मा० प्र० स० श्लो० ३१ चतुर्थपादः ।

3 मा० प्र० स० श्लो० ३२ माघस्य प्रथम–तृतीयपादौ अत्रापि प्रथम–तृतीयपादौ ।

4 मा० प्र० स० श्लो० ३३ माघस्य द्वितीय–तूर्यचरणौ अत्रापि तावेव ।

5 मा० प्र० स० श्लो० ३४ चतुर्थपादः ।

6 मा० प्र० स० श्लो० ३५ चतुर्थपादः ।

7 मा० प्र० स० श्लो० ३६ चतुर्थपादः ।

8 मा० प्र० स० श्लो० ३७ चतुर्थपादः । माघे तु 'मीश ! मादृशाम्' इति पदविभागः, अत्र तु 'मीशमादृशाम्' इति समस्तं ज्ञेयम् ।

9 मा० प्र० स० श्लो० ३८ चतुर्थपादः ।

तया द्रुमाणां कुसुमैरुपास्यया द्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया[1] ॥ ४० ॥
चतुष्पथे पण्यमगण्यमुचितं श्रितैः प्रभाकृत्[१]कृतसत्यकर्मभिः ।
उपेत्य देवैः क्रियते कथित्रजैर्मिथस्त्वदा[२]भाषणलोलुपं मनः[2] ॥ ४१ ॥
पुरीं पुरन्ध्रीजनरूपसम्पदा सदा जयन्तीं जयवाहिनीजनम् ।
स्थितस्य दूरे दिशति स्वनिन्दनामहिद्विषस्त[३]द्भवता निशम्य ताम्[४][3] ॥ ४२ ॥
अथ स्फुरद्विक्रमभूमभूरभूत् सुराष्ट्रकूटान्वयभूर्भुवः प्रभुः ।
रवीन्दुदम्भान्नभसे यदर्पितं हिरण्यपूर्वं कसिपुं[५] प्रचक्षते[4] ॥ ४३ ॥
स भानुभानुर्भुवि भानुसंज्ञया बभौ बृहद्भानुविभानुभावभृत् ।
प्रतापरू[६]पं श्रयताऽऽयतार्थ[७]भीर्मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत[5] ॥ ४४ ॥
तदङ्गजः पुञ्ज[८] इति श्रियाऽऽख्यया जयंश्च मुञ्जं नृपवर्ग आदिमः ।
यदाश्रयादाह हरिश्चलेत्यमुं प्रवाद[९]मुच्चैरयशस्करं श्रियः[6] ॥ ४५ ॥
रणेऽतिरीणै[१०]र्बहुहृष्टपिञ्जलै[११]स्सदाऽ[१२]सुरीभासनयाऽऽस्यसन्निधौ ।
स्वजीवनार्थं जवसानि[१३] यावनैर्गणैस्तमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे[7] ॥ ४६ ॥
समञ्जसेनैष[१४] जनार्दनं जयन् यया प्रजारञ्जनमार्जयज्जयी ।
व्यधायि तस्यै शिरसा रसान्मिलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे[१५] नमः[8] ॥ ४७ ॥
चमूप्रचारैरचलाप्रकम्पिना द्विषां गणो येन रणाङ्गणे क्षणात् ।
प्रकोपकम्पादरुणैरिवारुणैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः[9] ॥ ४८ ॥
तदात्मजन्माङ्गजमञ्जिमा जने द्विधापि नारायणशब्दविश्रुतः ।
पुरं वलक्षं विदधद् यशोधनैर्बभूव [१६]रक्षःक्षतरक्षणं दिवः[10] ॥ ४९ ॥

---

१ 'प्रभाकृत्' सूर्यरूपः रूप्यकः सत्यंकारपदे दिवि न्यस्तः ।

२ '–थस्त्वदाभाषण–' त्वत् समुच्चयवाची ।

३ '–द्विषस्तद्भवता' स एव भवः तद्भवः तस्य भावः तद्भवता ।

४ 'ताम्' तां पुरीं निशम्य अहिद्विषः इन्द्रस्य मद्भवता निन्दां दिशति दत्ते–पुर्या अहं दूरे स्थितः तेन मद्भवो न प्रशस्य इति भावः ।

५ 'कसिपुं' "कसिपुर्भोजना–ऽऽच्छादौ" इति हैमः । ["कसिपुर्भोज्य–वस्त्रयोः" है० अने० सं० कां० ३ श्लो० ४३३]

६ 'प्रतापरूपं' 'प्रताप–कीर्ती' इति वा पाठः ।

७ 'श्रयतायतार्थभी–' आयता दीर्घा अर्थभीः देवानां चित्तेनिहिता ।

८ 'पुञ्ज' पक्षे नृषु पवर्गेषु ज आद्यः । मुञ्जस्तु अन्त्यः ।

९ 'प्रवाद–' प्रवादकथनेन हरेः असामर्थ्यं व्यञ्जितम्–यद् अयं हरिः तस्माद् राज्ञः श्रियं प्रत्याहर्तुमक्षमः तदा अपवादं चकार ।

१० '–रीणै–' रीणैः भग्नैः ।

११ '–हृष्टपिञ्जलै–' हृष्टं स्वपरचक्रजं भयम् तेन पिञ्जला व्याकुलाः तैः–भृशमाकुलैः ।

१२ 'सहासुरी' इति वा पाठः ।

१३ 'जवसानि' तृणानि ।

१४ 'समञ्जसेनैष' "न्याय–सुदेशरूपं समञ्जसम्" इति हैमः ।

१५ '–दिशे नमः' दिक्शब्देन लक्षणया रीतिः नीतिमार्गो वा ।

१६ 'रक्षःक्षतरक्षणं दिवः' रक्षोभिः क्षता भग्ना रक्षणं रक्षा यस्य तत् दिवः पुरम्—उज्ज्वलयन् । रक्षसां क्षतानि प्रहाराः तेभ्यो रक्षणं यत्र तत् । रक्षोभिः कृतं भग्नम् लक्षणं दर्शनं यस्य तत् ।

---

1 मा० प्र० स० श्लो० ३९ चतुर्थपादः ।

2 मा० प्र० स० श्लो० ४० चतुर्थपादः ।

3 मा० प्र० स० श्लो० ४१ चतुर्थपादः ।

4 मा० प्र० स० श्लो० ४२ चतुर्थपादः । माघे तु कशिपुनामा राक्षसः, अत्र तु तत्स्थाने 'कसिपु' पदं भिन्नार्थकम् । शकार–सकारयोरैक्यमत्र ज्ञेयम् ।

5 मा० प्र० स० श्लो० ४३ चतुर्थपादः ।

6 मा० प्र० स० श्लो० ४४ चतुर्थपादः ।

7 मा० प्र० स० श्लो० ४५ चतुर्थपादः । माघे तु 'गणैर्यमाशङ्क्य' इति पाठभेदः ।

8 मा० प्र० स० श्लो० ४६ चतुर्थपादः ।

9 मा० प्र० स० श्लो० ४७ चतुर्थपादः ।

10 मा० प्र० स० श्लो० ४८ चतुर्थपादः । माघे तु 'रक्षःक्षतरक्षणं दिवः' इति पदच्छेदभेदः ।

स शास्ति शास्ता जगतीं हरेः श्रियं हरन् विहारैर्बलिराजबन्धनात् ।
भक्तेर्भरात् कारयते बलेन यः प्रसादमिच्छ(च्छा)सदृशं पिनाकिनः[1] ॥ ५० ॥
जवान्निगृह्णन्नरिमण्डलं बलादुपाददे मण्डलमग्रणीः सताम् ।
ददौ पुनस्तस्य सुराङ्गनाजनस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम्[2] ॥ ५१ ॥
नभोनिविष्टानुडुरूपिणः सुरान् भयात् प्रगेऽनाशयदाद्यनिःस्वनैः ।
प्रतापमाधाय रविच्छलाद् व्यधाद् य इत्थमस्वास्थ्यमहर्निशं दिवः[3] ॥ ५२ ॥
वदान्यभावादधरीकृतामरद्रुमस्य राज्ञः पटहध्वनेस्त्रसन् ।
स्वपादयोः कन्दरमन्दिरोदरे बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम्[4] ॥ ५३ ॥
निविह्नुवानोऽस्य भियाऽभ्रकुम्भिनं विधुच्छलादुच्छिरसं नभोऽम्बुधौ ।
दिवं विहायैकदिगंशमाश्रयन्निनाय बिभ्यद् दिवसानि कौशिकः[5] ॥ ५४ ॥
जगन्नयैः सन्नयनं नयन्नयं दरिद्रताद्रावकदानमुद्रया ।
ररञ्ज लोकानपि हातुमाहितं न चक्रमस्याऽऽक्रमताधिकं धरम्[6] ॥ ५५ ॥
उवास तत्र व्यवहारिणां वरः स्थिराभिधो माधवदेहसम्भवः ।
वपुस्त्विषा श्रीहरणान्मनोभुवः प्रकम्पयामास न मानसं न सः[7] ॥ ५६ ॥
गिरः श्रियः क्षान्तिवदान्यतादयो गुणाश्च मुक्त्वा त्रिजगत् समं समे ।
तदीयमस्थानतयेव दुष्कलेर्जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे[8] ॥ ५७ ॥
पदे पदेऽर्हन्निलयैः स्वकारितैर्यशःसगर्भैरथ सङ्घयात्रया ।
तथा स गां चक्रिरहीशितुर्यथोदुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः[9] ॥ ५८ ॥
पतिव्रता प्राप्तवपुःस्वरूपतः शचीव रूपा इति रूपरूपिणी ।

---

१ '–नाशयदाद्य–' इत्यस्य स्थाने 'नाशय वाद्य' इत्यपि पाठः । वाद्यनिःस्वनैः–प्राभातिकवाद्यशब्दैः ।

२ 'प्रतापमाधाय' यः राजा इत्थं रविच्छलात् प्रतापम् आधाय इत्थमिति हे प्रताप! त्वं सुरान् नाशय इत्यर्थे 'वाद्यनिःस्वनैः' इति पाठः ।

अन्यस्यापि भूपस्य प्रतापाद् वैरिणां ग्रामेषु रात्रौ निवासः, प्रातः प्रणाशः स्याद् इति भावः ।

३ 'बलस्य शत्रुः' शत्रुः पादयोर्बलस्य शीघ्रतां प्रशशंस ।

४ '–लादुच्छिरसं' उच्छिरसम् उन्मस्तकम् ।

५ 'हातुमाहितं न चक्र–' पर्वतं त्यक्तुम्–आहितं चक्रं न आक्रमत–न चचाल । अस्य राज्ञः आहितं चक्रम् । अहितानामिदम् आहितं चक्रम्–रिपुगणः अधिकं महान्तम्, पर्वतं धरम्, हातुम्–त्यक्तुम्, न आक्रमत–न उद्यमं चकार ।

६ 'माधवदेहसंभवः'–माधवपुत्रतया कान्त्या च स्मरं जिगाय ।

७ 'जवेन कण्ठं सभयाः' कण्ठम्–उपकण्ठम्, "सत्यभामा भामा" इति न्यायात् । "कण्ठो ध्वनौ सन्निधाने ग्रीवायां मदनद्रुमे" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० १०१] । कण्ठम्–समीपम् ।

८ 'तथा स गां चक्रि–' गाम्–भुवम् ।

९ 'रूपरूपिणी'–प्रशस्तरूपवती ।

---

1 मा० प्र० स० श्लो० ४९ चतुर्थपादः । अत्र तु 'मिच्छ-सदृशम्' इति लेखकप्रमादः ।

2 मा० प्र० स० श्लो० ५० चतुर्थपादः ।

3 मा० प्र० स० श्लो० ५१ चतुर्थपादः । माघे 'महर्दिवं दिवः' इति पाठः ।

4 मा० प्र० स० श्लो० ५२ चतुर्थपादः ।

5 मा० प्र० स० श्लो० ५३ चतुर्थपादः ।

6 मा० प्र० स० श्लो० ५४ चतुर्थपादः । माघे 'धिकन्धरम्' इति अखण्डम् ।

7 मा० प्र० स० श्लो० ५५ चतुर्थपादः ।

8 मा० प्र० स० श्लो० ५६ चतुर्थपादः ।

9 मा० प्र० स० श्लो० ५७ चतुर्थपादः ।

शुचिस्वभावैर्जगतीं [१]तमोहरैरलञ्चकारास्य [२]वधूरहस्करः[1] ॥ ५९ ॥
स्वबन्धुकर्णोत्पलयुग्ममन्तिके निवेश्य तस्या वदना[३]नुजीविना ।
निबद्धवेणी[४]तमसः प्रसादनैर्न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना[2] ॥ ६० ॥
मुखश्रियाऽस्यास्तुलितं विधुं विधिर्बभञ्ज पूर्णं न पुनर्व्यचूर्णयत् ।
अयं ततः पुष्करदन्तिनो यथा विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति[3] ॥ ६१ ॥
विलासलीलाकलनाय तस्थिवानजस्रमस्याः सविधेऽप्सरोजनः ।
सखीमिषात् तद्विरहोष्मणाऽऽतुराः प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः[4] ॥ ६२ ॥
तयाऽऽस्यपाणिक्रममङ्घ्रिमाक्रमैर्जितश्रि पद्मं महिकाश्रुनिर्भरम् ।
व्यनक्ति भृङ्गैरसुखैर्ज्वलत्क्रुधा तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः[5] ॥ ६३ ॥
[५]पयोधर-[६]श्रोणिभरश्रियाऽनया निर्भर्त्सितं कुम्भयुगं रयेण [७]नः ।
दिगन्तमाप्तैरिति सज्जलज्जया चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः[6] ॥ ६४ ॥
अजिह्मकृद् ब्रह्म तदङ्गसङ्गतं पुनात्यतुच्छोच्छ्रितवालमन्वयम् ।
किमद्भुतं [८]यच्छ्रवणाद्भुवेक्षणैः कुलैर्न भेजे फणिनां [९]भुजङ्गता[7] ॥ ६५ ॥
प्रवेणिवादादधरीकृतः स्मयो वचःप्रपञ्चैरमृतं तयोच्चितम् ।
भुवो भरार्तैर्न तथापि भोगिभिः कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता[8] ॥ ६६ ॥

[पाठान्तरम्]

श्रुतिद्वयीदर्शनतः स्फुरद्रुचि द्वयं [१०]दृशोर्नाटयतः स्मराश्रयम् ।
कलत्ररत्नस्य कलाः किलाखिलाः [११]पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः[9] ॥ ६७ ॥
उडूनि मुक्तास्रजि चित्रके गुरुर्विधुः खगः कुण्डलयोः कृतस्थिती ।
सुरा भजन्तः किमु कामिनीमणेः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः[10] ॥ ६८ ॥

[पाठान्तरम्]

अथाश्रयत् कोऽपि सुरः स्फुरत्प्रभो भवाय गर्भं शुभदोहदोद्भवः ।
तदाश्रयेऽस्याः शुचिपाण्डुरं भृशं वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ[11] ॥ ६९ ॥
असूत सा पोषवलक्षपक्षजे त्रयोदशेऽह्न्यङ्गजरत्नमद्भुतम् ।

---

१ 'तमोहरै–' तमः पापम् तिमिरं वा ।

२ '–कारास्य वधूरहस्करः' अस्य व्यवहारिणः वधूः च पुनः अहस्करः शुचिस्वभावैर्जगतीं अलंचकार । उभयोर्निर्दोषत्वध्वनिः । 'च'कारोऽध्याहार्यः ।

३ 'अनुजीविना'–भृत्येन ।

४ 'निबद्धवेणीतमसः' तमो राहुः ।

५ 'पयोधर'–स्तनः ।

६–'श्रोणि'–नितम्बः ।

७ 'नः' अस्माकम् ।

८ 'यच्छ्रवणाद्भुवेक्षणैः' श्रुवनेत्रकथनं तेषां कर्ण एव नेत्रत्वात् ।

९ 'भुजङ्गता' वक्रता ।

१० 'दृशोर्नाटयतः' दृशोर्द्वयम् आकर्णान्तविश्रान्तम् । छायार्थे यः श्रुतेः शास्त्रस्य द्वयं पश्यति तस्य रुचिः स्फुरति ।

११ 'पुरेऽस्य' पुरे शरीरे ।

---

1 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ५८ चतुर्थपादः ।
2 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ५९ चतुर्थपादः ।
3 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ६० चतुर्थपादः ।
4 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ६१ चतुर्थपादः ।
5 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ६२ चतुर्थपादः ।
6 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ६४ चतुर्थपादः ।
7 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ६३ चतुर्थपादः ।
8 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ६३ चतुर्थपादः ।
9 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ६६ चतुर्थपादः ।
10 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ६६ चतुर्थपादः ।
11 मा॰ प्र॰ स॰ श्लो॰ ६५ चतुर्थपादः ।

नृपादयोऽप्युत्सवकर्म चक्रिरे सदाभिमानैकधना हि मानिनः[१][1] ॥ ७० ॥
क्रमेण जन्मस्य[२] महे निवर्त्तिते स वासुदेवाह्वयमादधे शिशुः ।
विधूत्य चिच्छक्तिमसौ तमोऽवधेर्विलङ्घ्य[३]लङ्कां निकषा हनिष्यति[2] ॥ ७१ ॥
स लाल्यमानोऽञ्चित[४]पञ्चधात्रिणा[५] तथा क्रमेणावयवानपूपुषत् ।
अशिश्रियद् विश्वकलाश्रियो यथा प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः[६] परैः[3] ॥ ७२ ॥
तदेव देवाग्रिमजन्म[७]जन्मसत्-वपुर्विशेषश्च गिरां श्रियां च सः ।
रवेः प्रभेव प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि[4] ॥ ७३ ॥
बभूव भूवल्लभचेतसां प्रियः स्मरस्वरूपोऽपि स धर्मधर्मधीः ।
सदर्थभाक् चन्द्ररुचिर्यशोभरैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः[5] ॥ ७४ ॥
कुमारमद्रेस्तनयेव[८] सादरं तमङ्कमारोप्य जनन्यथोत्सुका ।
निरीक्षमाणावयवान् स सद्वयो–वितीर्णवीर्यातिशयी(यान् ?) हसत्यसौ[6] ॥७५॥
प्रकाममालिङ्ग्य निचुम्ब्य मूर्ध्न्यवक् विवाहकर्म क्रियते तवाङ्गभूः ।
प्रमोदनीयाः सुहृदोऽनया दिशा[९] व्यापादनीया हि सतामसाधवः[7] ॥ ७६ ॥
तनय ! नय विनोदशर्म नस्त्वं वितनु सनर्म सदोरसो[१०] रसार्द्रः ।
रुचिरुचिरचलेक्षणाकुचाग्रध्रुवपरिरम्भनिपीडनक्षमंत्वम्[११][8] ॥ ७७ ॥

स्वीयैस्तद्वचनाऽग्रहेऽपि सहसा वीवाहसत्याकृतेः
प्रारब्धेऽतिमहोत्सवे प्रभवति श्रेयस्करे कर्मणि ।

१–'धना हि मानिनः' मानिनः ज्ञानिनः ।

२ 'क्रमेण जन्मस्य' जन्मशब्दः अकारान्तः उणादौ ।

३ 'वासुदेवाह्वयमादधे शिशुः' 'विलङ्घ्यलङ्कां निकषा' असौ वासुदेवः चिच्छक्तिं विधूत्य अवधेर्विलङ्घि निस्सीमम्, तमः पापम् राहुं वा हनिष्यति । किंभूतां चिच्छक्तिम्? अरङ्काम् उग्राम्—दीप्ताम् निकषा पार्श्वे बालत्वेऽपि अस्मिन् भवे । यद्वा अलम्–अत्यर्थम्, काञ्चिद् अनिर्वचनीयाम् ।

४ 'लाल्यमानोऽञ्चित–' अञ्चितम् प्रशस्तम् ।

५ 'पञ्चधात्रिणा' पञ्चानां धात्रीणां समाहारः पञ्चधात्रि–तेन ।

६ 'सम्प्रति सोऽप्यसः' यथा सम्प्रति तत्क्षणमेव दृष्ट्वा नायं स इति लोकैर्ज्ञायते इत्यनेन रमणीयता 'असः' इति । "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" इति वचनात् ।

७ 'देवाग्रिमजन्म–' सुरसत्कपूर्वभवबद्धम् ।

८ 'कुमारमद्रेस्तनयेव' कुमारम् स्कन्दम् ।

९–'नया दिशा' दिशा रीत्या ।

१० 'सदोरसो रसार्द्रः' सदा उरसः–वक्षसः ।

११ 'रुचिरुचिरचलेक्षणाकुचाग्र–' रुचिरुचिरचलेक्षणाकुचाग्रध्रुवपरिरम्भनिपीडनक्षमलं वितनु कुरु, उरसः वक्षसः । यद्यपि जनन्या इदं वचो न घटते, तेन जननीपदेन धात्री ग्राह्या ।

---

1 मा० प्र० स० श्लो० ६७ चतुर्थपादः ।

2 मा० प्र० स० श्लो० ६८ चतुर्थपादः । माघे 'विलङ्घ्य लङ्काम्' इति पदविभागः । अत्र तु 'विलङ्घि अलङ्काम्–अरङ्काम्'–अथवा 'अलम् काम्' इति पदच्छेदः । अत्र र-लयोरैक्यं ज्ञेयम् ।

3 मा० प्र० स० श्लो० ६९ चतुर्थपादः ।

4 मा० प्र० स० श्लो० ७२ चतुर्थपादः । अत्र माघस्य ७२ श्लोकगतम् 'प्रकृतिः सुनिश्चला' इति तृतीयचरणमपि ।

5 मा० प्र० स० श्लो० ७० चतुर्थपादः ।

6 मा० प्र० स० श्लो० ७१ चतुर्थपादः । माघे तु '–वीर्यातिशयान्' इति पाठः ।

7 मा० प्र० स० श्लो० ७३ चतुर्थपादः । माघे 'विपादनीया हि' इति पाठः ।

8 मा० प्र० स० श्लो० ७४ चतुर्थपादः । माघे–'कुचाग्रद्रुतपरिरम्भ–' इति पाठः ।

ऐन्द्रः[1] केकिकलापभृद्बलरिपोः छायां सृजन्नञ्जसा
व्योम्नीव भ्रकुटिच्छले न वदने केतुश्चकारास्पदम्[1] ॥ ७८ ॥

॥ इति श्रीदेवानन्दे महाकाव्ये दिव्यप्रभापरनाम्नि माघसमस्यायां ऐंकाराङ्के महोपाध्यायश्रीमेघविजयगणिविरचिते कथानायक-उत्पत्तिवर्णननामा प्रथमः सर्गः ॥ श्री ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः ।

उद्विवाहिषया[2] मात्राभ्यर्थितः स भवाप्तभीः ।
जैनीं दीक्षामुपादित्सुरासीत् कार्यद्वयाकुलः[2] ॥ १ ॥
अखण्डमण्डनश्रीणां सपिण्डाऽचण्डरोचिषाम् ।
सम्पृक्तानां विवाहार्थमथासावासदत् सदः[3] ॥ २ ॥
स[4] पितृव्योऽग्रजन्मा च बभौ भूविघ्नभेदिनी ।
रहःस्थले[5] ज्वलत्येवमसौ नरशिखित्रयी[4] ॥ ३ ॥
भ्रातस्तात ! मनोभावा दीक्षां गोचरयन्ति मे ।
सुखंमन्या वने जन्य[6] ! पौरुषेयवृता इव[5] ॥ ४ ॥
श्रुत्वाऽस्यैवं वचः स्थैर्यात् ताभ्यामूहे सविस्मयम् ।
सद्यः संयुक्तमात्रा च त्रिकूटशिखरोपमा[7][6] ॥ ५ ॥
मातुर्भ्रातुश्च हग्भावैर्विभाव्यान्तरभावनाम् ।
तं पितृव्यः कृताक्षेपमाचचक्षे विचक्षणः[7] ॥ ६ ॥
वीक्ष्या दीक्षा तटस्थित्या वत्स ! नान्तर्निमज्जनैः ।
ऋषिकुल्येव सिद्धानां शुद्धवर्णा सरस्वती[8] ॥ ७ ॥
अविमृष्टमशक्यार्थं नाद्रियन्ते मनस्विनः ।
वनौकसः प्रशस्यं किं नाटकीयस्य वस्तुनः[9] ॥ ८ ॥

---

१ 'ऐन्द्रः केकिकलाप–' ऐन्द्रः केतुर्ध्वजः व्योम्नि बलरिपोः शक्रस्य वदने छायां सृजन् आस्पदं चकार । किंभूते वदने ? न भ्रकुटिच्छले प्रसन्ने इत्यर्थः—भ्रकुट्याः छलं स्खलितं यत्र तस्मिन्–ईदृशे न । "छलं छद्मस्खलितयोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ४७५] ।

२ 'उद्विवाहिषया'—परिणिनायिषया ।

३–'सदत् सदः' सदः सभाम् ।

४ 'स पितृव्यो–' स बालः ।

५ 'रहःस्थले'—एकान्ते ।

६ 'वने जन्य !' "जन्यो जामातृवत्सले । जनके जननीये च" इति अनेकार्थः । [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ३५२–३५३] ।

७ 'त्रिकूटशिखरोपमा' त्रिकूटशिखराणि इव—मात्रा ताभ्यां च—त्रिभिः न चेले इत्यर्थः ।

८ 'शुद्धवर्णा सरस्वती' गङ्गा दीक्षाऽपि ऋषिकुलयोग्या शुद्धवर्णा श्वेताम्बरसत्का, गङ्गापक्षे निर्मला । सिद्धानां सरस्वतीव सरस्वती–वाणी ।

---

1 मा० प्र० स० श्लो० ७५ चतुर्थपादः । माघे '–छलेन' इति तृतीयान्तम् ।

2 मा० द्वि० स० श्लो० १ चतुर्थपादः ।

3 मा० द्वि० स० श्लो० २ गतं द्वितीयचरणम् अत्र चतुर्थम् ।

4 मा० द्वि० स० श्लो० ३ चतुर्थपादः ।

5 मा० द्वि० स० श्लो० ४ चतुर्थपादः ।

6 मा० द्वि० स० श्लो० ५ चतुर्थपादः ।

7 मा० द्वि० स० श्लो० ६ चतुर्थपादः ।

8 मा० द्वि० स० श्लो० ७ चतुर्थपादः ।

9 मा० द्वि० स० श्लो० ८ चतुर्थपादः ।

भुक्त्वा ततश्चिरं भोगं स्मेरदृग्भिः स्मराकरम् ।
क्रियाः क्रिया जरन्नुच्चैरिज्यायै तपसः सुत[१] ![1] ॥ ९ ॥
श्रुत्वेत्यूचे स तद्वाचं मदनद्रुमसारणीम् ।
तात ! किं नैव दुःखाय वत्स्यन्तावामयः स[२] च[2] ? ॥ १० ॥
आयुर्वायुरिवाऽस्थेयश्चिकुराः[३] सम्पदङ्कुराः ।
शश्वीव स्त्रीभवः काममतो दुःखाकरोति माम्[3] ॥ ११ ॥
भवन्तोऽप्यनुमन्यन्तां ग्रहीष्ये सौख्यदं व्रतम् ।
कः सामग्र्यामवाप्तायां सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि ?[4] ॥ १२ ॥
किं पुनर्वार्तिकैर्भाष्यैः सूत्रवत् सर्वतो मुखम् ।
तत्त्वमेव वदन्त्यार्याः प्रकृत्या मितभाषिणः[5] ॥ १३ ॥
ततोऽश्रुसेकाज्जाड्यार्तेनेव किञ्चिद् विवक्षया ।
अकम्पि मातुरोष्ठेन बिम्बचुम्बनचञ्चुना[४][6] ॥ १४ ॥
वत्स ! व्रतवचः शून्यवाद्युपन्यासवन्मम ।
प्रतिभाति नयैतां तद् गिरमुत्तरपक्षताम्[7] ॥ १५ ॥
भर्तुर्वियोगे भामिन्या दिक् सूनुर्मातुरातुरे ।
करोति यः स्नुषाऽऽलोकपरिपूतपुटे दृशौ[५][8] ॥ १६ ॥
आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम् ।
कुरु त्वं भूरिसौरभ्यां वनमालां मुखानिलैः[9] ॥ १७ ॥
आक्रीडेः[६] क्रीडया स्त्रीभिरङ्गभूरङ्गभूतरोः[७] ।
प्रसवानीव धेह्यङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः[८][10] ॥ १८ ॥
त्वद्विवाहोऽस्तु दायाद[९] ! जन्मतद्द्वारकर्मभिः ।
सानुबन्धां स्रजं द्वारे विदधच्चूतपल्लवीम्[१०][11] ॥ १९ ॥

---

१ 'तपसः सुत !' तपसः व्रतस्य, इज्यायै यज्ञाय, क्रियाः क्रियाः सुत हे ! ।

२ –'वामयः स च' स भोगः ।

३–'स्थेयश्चिकुराः' चिकुराः चपलाः ।

४ 'बिम्बचुम्बनचञ्चुना' बिम्बतुल्येन । चुम्बनं प्रीत्या, सा प्रीतिः सुहृद्भावे इति लक्षणया तुल्यत्वमित्यर्थः ।

५ 'स्नुषाऽऽलोक–' वध्वा दर्शनेन ।

६ 'आक्रीडेः क्रीडया' आक्रीड उद्यानम् ।

७–'रङ्गभूरङ्गभूतरोः' हे अङ्गभूः ! अङ्गभूतरोः स्मरतरोः ।

८–'विप्रुषः' बिन्दवः ।

९ 'दायाद !' "दायादौ पुत्र–बान्धवौ" इति । [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० ३२५]

१०–'चूतपल्लवीम्' आम्रपल्लवमालाम् । माथुरदेशीयभाषया चूतपल्लवी ।

---

1 मा० द्वि० स० श्लो० ९ चतुर्थपादः । माघे तु 'सुतः' इति भेदः ।

2 मा० द्वि० स० श्लो० १० चतुर्थपादः ।

3 मा० द्वि० स० श्लो० ११ चतुर्थपादः । माघे–'मदो दुःखाकरोति' इति पार्थक्यम् ।

4 मा० द्वि० स० श्लो० १२ चतुर्थपादः ।

5 मा० द्वि० स० श्लो० १३ चतुर्थपादः ।

6 मा० द्वि० स० श्लो० १४ चतुर्थपादः । माघे तु–'चुञ्चुना' इति पाठः ।

7 मा० द्वि० स० श्लो० १५ चतुर्थपादः ।

8 मा० द्वि० स० श्लो० १६ चतुर्थपादः ।

9 मा० द्वि० स० श्लो० १७ चतुर्थपादः ।

10 मा० द्वि० स० श्लो० १८ चतुर्थपादः ।

11 मा० द्वि० स० श्लो० १९ चतुर्थपादः । माघे तु–'चौतपल्लवीम्' इति भिन्नः पाठः ।

आमुष्मिककृते[१] सूनो ! नैहिकीं त्यज सम्पदम् ।
नरो हि नरकः शीलं कृतानुव्याधमुद्वमन्[२][1] ॥ २० ॥
प्रदोषोऽङ्कस्थसूर्यत्वक् कुक्षिस्थेन्दुनिबद्धधीः ।
ग्रहैर्जोहस्यते नूनमुदंशुदशनांशुभिः[2] ॥ २१ ॥
इति प्रसू[३]वचोवातैर्मन्दरागः[४] स नाचलत् ।
चक्रेऽवक्रं तपः कृत्य-क्रिया केवलमुत्तरम्[3] ॥ २२ ॥
आमुष्मिकसुखस्यांशोऽप्यैहिकया नातिशय्यते ।
सम्पदा पूर्णयेद्धोऽग्निः[५] त्विषा नात्येति पूषणम्[4] ॥ २३ ॥
धर्मः पद्म इवोद्बुद्धः शुद्धहंसाभिनन्दनः ।
सेव्यो भव्यैर्जनन्यैवं प्रवाचः कृतिनां गिरः[5] ॥ २४ ॥
धर्माद् रसादिव[६] स्वल्पादपि कल्याणसाधनम्[७] ।
इति सूत्रस्य सद्वाण्यो भाष्यभूता भवन्तु मे[6] ॥ २५ ॥
श्रेयसः[८] श्रेयसः श्रेणी गिरेरिव सरिद् भवेत् ।
पापादापद्भवो ज्ञातुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम्[7] ॥ २६ ॥
अनुपार्जितपुण्यस्य जन्मान्तर्गड्डुजन्मिनः ।
निमित्तादपराद्धेषोर्[९]धानुष्कस्येव वल्गितम्[8] ॥ २७ ॥
मुक्त्यङ्गनानुरागाय विहाय व्रतपञ्चकम् ।
असमः शमिनामन्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्[१०][9] ॥ २८ ॥
तत्राप्यार्यं व्रतं तुर्यं पावनं दुरुपावनम्[११] ।
जगज्जैत्रस्मरादिभ्यः परेभ्यो भेदशङ्कया[10] ॥ २९ ॥
ब्रह्मोष्णरश्मेर्बालार्चिश्चक्रवर्तिप्रवृत्तयः ।
तत्पूर्णतेजः स्तोतुं कैर्वाचस्पत्यं प्रतन्यते ?[11] ॥ ३० ॥
निस्तोषं योषिदा[१२]श्लेषाद् मन्थनां द्रविणक्षयम् ।

१ 'आमुष्मिककृते' आमुष्मिकः परभवः ।

२ 'कृतानुव्याधमुद्वमन्' कृतः अनुव्याधः संपर्को यस्य तत्— विहितस्वीकारम् । अनुव्याधो वा पश्चात्तापः ।

३ 'इति प्रसू-' प्रसूः माता ।

४–'मन्दरागः स नाचलत्' मन्दो रागो यस्य । पक्षे मन्दरो यः—अगः पर्वतः मेरुः ।

५ 'पूर्णयेद्धोऽग्निः' इद्धो दीप्तः ।

६ 'रसादिव' रसात् पारदात् ।

७ 'कल्याणसाधनम्' कल्याणं मोक्षः स्वर्णं च ।

८ 'श्रेयसः' पुण्यात् । 'श्रेयसः' मङ्गलस्य ।

९ 'अपराद्धेषोः' च्युतशरस्य ।

१० 'महीभृताम्' क्षमाभृताम् ।

११ 'दुरुपावनम्' दुःखेन समीपे रक्षणीयम् ।

१२ 'योषिदाश्लेषात्' समुद्रस्त्रियो नद्यः तासां नित्यसंगात् ।

1 मा० द्वि० स० श्लो० २० चतुर्थपादः ।

2 मा० द्वि० स० श्लो० २१ चतुर्थपादः । माघे '–मुदग्रदशनांशुभिः' इति पाठः ।

3 मा० द्वि० स० श्लो० २२ चतुर्थपादः ।

4 मा० द्वि० स० श्लो० २३ चतुर्थपादः । अत्र माघे च समानार्थं समग्रमुत्तरार्धम् ।

5 मा० द्वि० स० श्लो० २५ चतुर्थपादः ।

6 मा० द्वि० स० श्लो० २४ चतुर्थपादः ।

7 मा० द्वि० स० श्लो० २६ चतुर्थपादः ।

8 मा० द्वि० स० श्लो० २७ समग्रमुत्तरार्धम् ।

9 मा० द्वि० स० श्लो० २८ चतुर्थपादः ।

10 मा० द्वि० स० श्लो० २९ चतुर्थपादः ।

11 मा० द्वि० स० श्लो० ३० चतुर्थपादः । माघे तु 'प्रतायते' इति भिन्नम् ।

प्राप्नोति पुरुषो नूनं दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः[1] ॥ ३१ ॥
मूलं धर्मतरोर्ब्रह्म कूलं भवपयोनिधेः ।
येन लुब्धेन नालम्बि न वर्द्धयति तस्य ता[१][2] ॥ ३२ ॥
[२]श्यामासक्तरुचिः कामोल्लासाद् राजापि च क्षयी ।
[३]सुवृत्तशीलो निर्दोषस्तत्रोदाहरणं रविः[3] ॥ ३३ ॥
बालस्याऽबालगीःसारैरेवं बुद्वा प्रसूरपि ।
पार्थक्येन मृदि न्यस्तमुदकं नावतिष्ठते[४][4] ॥ ३४ ॥
[५]उच्चैःकुलगिरौ स्वस्था सिंहीव स्यामहं न किम् ।
यज्जन्यस्त्वं प्रशस्यश्रीः सैंहिकेयोऽसुरद्विषाम्[६][5] ॥ ३५ ॥
चक्रे प्राचीव मित्रेण त्वयाऽहं पुत्र ! निस्तमा ।
पुत्रौ क्रोडषिणहौ स्यातां सहजप्राकृतावपि[6] ॥ ३६ ॥
[७]प्रतीक्ष्यः [८]पृथुकोऽपि स्यात् पुण्यधीर्नान्यथा महान् ।
पुण्यनैपुण्यमर्च्यत्वे लक्ष्यं लक्षणमेतयोः[7] ॥ ३७ ॥
धन्यस्त्वं योऽजयद् बाल्ये महामोहमहीश्वरम्[९] ।
कृष्णायितः स तन्मूलं महद् वैरतरोः श्रियः[8] ॥ ३८ ॥
धन्यस्त्वं [१०]वासुदेवोऽसि महामोहमहीश्वरम् ।
जित्वा त्यजन् मूलमेता महद् वैरतरोः श्रियः[9] ॥ ३९ ॥
[पाठान्तरम्]

तत् प्रव्रज मया सार्द्धं त्वहते मां [११]स बाधते ।
प्रोषितार्यमणं मेरोरन्धकारस्तटीमिव[10] ॥ ४० ॥
एवं मातृगिरः शृण्वन् स्थिरसूः स्थिरमूहिवान् ।
धर्मे त्वरा हितं स्थैर्यमलमश्रेयसे यतः[11] ॥ ४१ ॥

---

१ 'ता' ता लक्ष्मीः । "ता सा श्रीः कमला" इति कोषः

२ 'श्यामासक्त–' "श्यामा स्त्री मुख्य (मुग्ध ?) यौवना" इति अनेकार्थध्वनिमञ्जरिः [श्लो० ९६ श्लोकाधि०] श्यामा रात्रिः ।

३ 'सुवृत्तशीलो' वृत्तम् आचरितम्, शीलम् स्वभावः । 'निर्दोषः' दोषा रात्रिः ।

४ '–तिष्ठते' अवपूर्वस्थाधातोः आत्मनेपदम् ।

५ 'उच्चैःकुल–' वंशपर्वते ।

६ '–द्विषाम्' असुरद्विषाम् देवानां प्रशस्यश्रीः ।

७ 'प्रतीक्ष्यः' पूज्यः ।

८ 'पृथुकः' बालः ।

९ '–महीश्वरम्' नृपम् ।

१० 'वासुदेवो–' वासुदेवनाम यथार्थं नागवशीकरणात् तस्य, श्रियस्त्यक्ताः ।

११ 'स' महामोहः ।

---

1 मा० द्वि० स० श्लो० ३१ चतुर्थपादः ।

2 मा० द्वि० स० श्लो० ३२ चतुर्थपादः । माघे 'ता' स्थाने ताम्' इति भिन्नं पदम् । माघे 'ताम्' इति द्वितीयान्तम्, अत्र तु 'ता' इति प्रथमान्तम् ।

3 मा० द्वि० स० श्लो० ३३ चतुर्थपादः ।

4 मा० द्वि० स० श्लो० ३४ चतुर्थपादः ।

5 मा० द्वि० स० श्लो० ३५ चतुर्थपादः । माघे '–ऽसुरद्रुहाम्' इति भिन्नता ।

6 मा० द्वि० स० श्लो० ३६ चतुर्थपादः ।

7 मा० द्वि० स० श्लो० ३७ चतुर्थपादः ।

8 मा० द्वि० स० श्लो० ३८ चतुर्थपादः ।

9 मा० द्वि० स० श्लो० ३८ चतुर्थपादः ।

10 मा० द्वि० स० श्लो० ३९ तृतीय–चतुर्थपादौ अत्रापि तावेव ।

11 मा० द्वि० स० श्लो० ४० चतुर्थपादः ।

अथ प्रतस्थे तीर्थानि नन्तुं निजजनैः समम् ।
स्थिरस्य वार्तां संयोज्य स सुतश्रवसः सुतः[1] ॥ ४२ ॥
तस्य तीर्थनमस्यार्थं प्रस्थितस्य वयः शुभाः ।
प्रदक्षिणाक्रियायै स्माऽऽशेरते तेऽभिमारुतम्[2] ॥ ४३ ॥
अहंपूर्विकयेतीव द्रुमाः पुष्पैरवाकिरन् ।
विलम्बमर्चितुं धीरोऽविराध्यं तं सहेत कः ?[3] ॥ ४४ ॥
तत्पार्श्वस्था द्रुमा वल्लीकान्तां श्लिष्टा रविप्रभाम् ।
आवव्रुश्छदनैः प्राप्तवैयात्यं सुरतेष्विव[4] ॥ ४५ ॥
स्वयं नेत्रश्रिया न्यङ्कून् जितान् नाम्न्यातपादिभिः ।
तस्याऽपश्यद् वने दृश्यान् जननी क्लेशकारिणः[5] ॥ ४६ ॥
शीतवातास्तमानर्चुर्न्यस्यन्तो वर्णपङ्कवत् ।
भालेऽम्बुजानां सामोददेहिनस्तद्वरं रजः[6] ॥ ४७ ॥
नामं नामं स तीर्थानि स्वयं तीर्थोपमां दधे ।
न कुर्वन्ति महात्मानः संज्ञायै जन्म केवलम्[7] ॥ ४८ ॥
अथ श्रीमान् मुनीशोऽभूत् श्रीहीरविजयः प्रभुः ।
आसीद् यस्मिन् महः कीर्तिरुभयं तद् महस्विनि[8] ॥ ४९ ॥
पुष्पदन्ताविवाऽऽयोज्य धात्राऽयं निर्ममे प्रभुः ।
गिरा सृजंस्तपस्तेजस्तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम्[9] ॥ ५० ॥
श्रीतपागच्छसम्राजमिन्दिरैनं यदाश्रयत् ।
ह्रियैवासीत् ततः कृष्णो लघुर्बहुतृणं नरः[10] ॥ ५१ ॥

१ 'स सुतश्रवसः' राज्ञः कर्णस्य वार्तां संयोज्य—राजानमापृच्छय इत्यर्थः । "सुतः पुत्रे नृपे" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० २०५] ।
२ 'वयः' पक्षिणः ।
३ 'आशेरते' आशयं चक्रुः प्रदक्षिणाक्रियायै ।
४ 'अविराध्यम्' पूज्यम् ।
५ '–वैयात्यम्' वियातो धृष्टः तद्भावो वैयात्यम् ।
६ 'न्यङ्कून्' मृगविशेषान् ।
७ 'क्लेशका–' नाम्न्याऽऽतपादिभिः क्लेशकारिणः ।
८ 'महः' तेजः । 'तद्' जगत्प्रसिद्धम् ।
९ 'पुष्पदन्ता–' हीः चन्द्रः, रविः सूर्यः, तयोः जयो यत्र स ही–रवि–जयः तेजसा कीर्त्या च ।
१० 'गिरा' वाण्या, म्रदिम्नः मार्दवस्य, फलं स्फुटं कुर्वन् ।
११ '–स्तेजस्तद्' तपस्तेजः तनोति इति तपस्तेजस्तत् ।
१२ '–वासीत्' गोविन्दः लज्जया कृष्णः श्यामः, च पुनः लघुः वामनः ।
१३ 'बहुतृणम्' तृणकल्पः आसीत् । कल्पार्थे 'बहुच्' प्रत्ययः ।
१४ 'नरः' "नरः कृष्णेऽर्जुने च" इति कोषः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ४२३]

1 मा० द्वि० स० श्लो० ४१ चतुर्थपादः । माघे तु 'स श्रुतश्रवसः सुतः' इति पाठः ।
अत्र तु चित्रकाव्यत्वेन 'श्रुत–' इत्यस्य रेफो लुप्तः, शकारश्च सकारो गण्यते इति न समस्यापादभेदः ।
2 मा० द्वि० स० श्लो० ४२ चतुर्थपादः । माघे तु 'शेरते' इति क्रिया ।
3 मा० द्वि० स० श्लो० ४३ चतुर्थपादः । माघे तु 'विराध्यन्तम्' इति अखण्डम्, क्रिया च 'क्षमेत' इति ।
4 मा० द्वि० स० श्लो० ४४ चतुर्थपादः ।
5 मा० द्वि० स० श्लो० ४५ चतुर्थपादः । माघे तु समस्तः सः ।
6 मा० द्वि० स० श्लो० ४६ चतुर्थपादः ।
7 मा० द्वि० स० श्लो० ४७ चतुर्थपादः ।
8 मा० द्वि० स० श्लो० ४८ चतुर्थपादः । माघे 'मनस्विनि' ।
9 मा० द्वि० स० श्लो० ४९ चतुर्थपादः ।
10 मा० द्वि० स० श्लो० ५० चतुर्थपादः ।

निस्त्रिंशस्त्रिजगत्त्रासी यस्तेजः स्कन्दवैरिणाम् ।
प्रत्यूष इव नव्यश्रीस्तपनो जातवेदसाम्[1] ॥ ५२ ॥
तस्याऽ[१]कब्बरभूजानेर्बोधिदानाद् यदीयका ।
दिग्दन्तिदन्तावालम्ब्य कीर्तिर्द्यामधिरोहति[2] ॥ ५३ ॥
प्रोद्दीपिते प्रतापेऽस्य कुपक्षाः क्षीणतां ययुः ।
शशाः किं यत्र विध्वस्तमृगपू[२]गो मृगाधिपः[3] ॥ ५४ ॥
सौभाग्यभाग्याभ्युदयं प्रभोः स्तोतुं क्षमेत कः ।
पूर्णं सुवर्णशैलेन्द्रं कोऽम्भसा परिषिञ्चति ?[4] ॥ ५५ ॥
उद्वेल्लद्भाग्यसौभाग्यवल्लीं पल्लविनीं जने ।
कविर्न स्तोत्ररूपेण कोऽम्भसा परिषिञ्चति ?[5] ॥ ५६ ॥
प्रभोः क्व कीर्तिपाथोधिः सुधाद्याः कैकदेशिनः ।
सादृश्यं यान्ति न क्वापि सर्पिषस्तोयबिन्दवः[6] ॥ ५७ ॥
श्रीमान् विजयसेनाख्यस्तत्पट्टे सूरिराड् बभौ ।
क्षणाद् येनान्तरा क्षिप्ता [३]दूष्यास्ते शत्रुसञ्ज्ञिताः[7] ॥ ५८ ॥
स्वशक्त्युपचये केचिदस्य सूरेः सुहृष्टयः ।
परेऽप्युपेत्य पादाब्जसेवाहेवाकितां दधुः[8] ॥ ५९ ॥
लिलङ्घयिषतो लोकान् अलङ्घ्यानलघीयसः ।
विधिरष्टश्रवा जज्ञे श्रोतुमस्य गुणानिव[9] ॥ ६० ॥
कीर्त्याभोगः श्रुताभो[४]गः सदाभो[५]गः शुभश्रियः ।
तादात्म्यभाक् प्रभौ तस्मिन् बुद्धेर्भोग इवात्मनि[10] ॥ ६१ ॥
निर्दम्भविद्यादम्भोलिभिन्नदुर्भावभूभृता ।
सूरीन्द्रेण शमैर्जिग्ये सुदमो दमघो[६]षजः[11] ॥ ६२ ॥
उर्वीं [७]सुपर्विणीं कुर्वन् श्रीराजनगरे गुरुः ।
अन्येद्युराययौ योगपूर्णस्तस्योत्सवाय सः[12] ॥ ६३ ॥

---

१ '–कब्बर–' अकप् अचलो वरो यस्य स–अकप्+वर–अकब्बरः ।

२—'पूगो' "पूगः समूहः" [अनेकार्थध्व० श्लो० १३४ अर्धश्लोकाधि०]

३ 'दूष्या–' दूषणार्हाः ।

४ '–आभोगः' विस्तारः ।

५ '—आभोगः' ज्ञानम् ।

६ '–दम–' दमघोषो नाम पूर्वऋषिः तस्मात् जात इव लुप्तोपमा ।

७'सुपर्वि–' सोत्सवाम्, सदेवाम् ।

---

1 मा० द्वि० स० श्लो० ५१ चतुर्थपादः ।

2 मा० द्वि० स० श्लो० ५२ चतुर्थपादः ।

3 मा० द्वि० स० श्लो० ५३ चतुर्थपादः । माघे तु '–मृगयूथो मृगाधिपः' इति ।

4 मा० द्वि० स० श्लो० ५४ चतुर्थपादः ।

5 मा० द्वि० स० श्लो० ५४ चतुर्थपादः ।

6 मा० द्वि० स० श्लो० ५५ चतुर्थपादः ।

7 मा० द्वि० स० श्लो० ५६ चतुर्थपादः ।

8 मा० द्वि० स० श्लो० ५७ प्रथमपादः । माघेऽपि स एव प्रथमपादः ।

9 मा० द्वि० स० श्लो० ५८ पूर्वार्धम् । माघेऽपि तदेव पूर्वार्धम् ।

10 मा० द्वि० स० श्लो० ५९ चतुर्थपादः ।

11 मा० द्वि० स० श्लो० ६० चतुर्थपादः ।

12 मा० द्वि० स० श्लो० ६१ चतुर्थपादः ।

त्यजतोऽलङ्कृतीः सर्वाः स्थिरसूनोर्गुरोर्दशा ।
नेशुरेनांसि कामायोः फणीन्द्रा इव शत्रवः[1] ॥ ८७ ॥
प्राची-रव्योरिवानूषः[१] प्रसू-सून्वोर्विभासतोः ।
दीक्षावेषात् ततः स्मोच्चैः फलत्युत्साहपादपः[2] ॥ ८८ ॥
बुद्धिशस्त्रप्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः ।
चारेक्षणः[२] स चारित्राद् रेजे राजेव नीरजाः[3] ॥ ८९ ॥
तपःशुक्लदशम्यां तं प्राव्राजयत सोत्सवम् ।
सूरीन्द्रः प्रभया जेता रसभागविदः[३] कवेः[4] ॥ ९० ॥
विद्याविजय इत्याख्यां सूरिश्चक्रे यथार्थदृक् ।
स्थाने न मोहः क्वापि स्याद् रसभागविदः कवेः[5] ॥ ९१ ॥
अशिक्षत स भिक्षूणामयनं विनयाश्रयम् ।
अप्रश्रितो[४] विपन्मूलं प्राप्ते काले गदो यथा[6] ॥ ९२ ॥
शुश्रूषया गुरोरेष कृत्स्नशास्त्ररसं पपौ ।
दशाकर्ष इव स्नेहं दशया ह्यन्तरस्थया[7] ॥ ९३ ॥
नैष्ठिको[५] दैष्टिको[६]त्कृष्टः स विद्याविजयो मुनिः ।
अविरुद्धं क्रियाज्ञान-द्वयं विद्वानपैक्षत[8] ॥ ९४ ॥
भूयोऽन्तिषन्मणीभर्तुरनेनैव कलाभृता ।
उल्लासोऽब्धेरिवर्षीणां तथा नेतुर्महीभृतः[७][9] ॥ ९५ ॥
जुष्टेश्वरेक्षणार्चिष्मद्[८] गङ्गातीरे तपस्यतः ।
राज्ञः कलाभृतस्ताराः प्रयान्ति परिवारताम्[10] ॥ ९६ ॥
इतीव तप्यतस्तीव्रं तपस्तस्य स्वयं गुणाः ।

---

१ '–नूषः' प्रभातकालाद् अनु इत्यनेन रक्तभात्यागः श्वेतपरिधानं सूचितम् ।

२ '–रेक्षणः' चारे ईर्यया गतौ ईक्षणे यस्य । राजपक्षे चाराः गूढपुरुषाः ।

३ '–भागविदः' प्रभया धिया, कवेः कवीनां जेता–ज्ञानवान् । 'कवेः' इति जात्या एकवचनम् । रसाः शृङ्गारादयः तेषां सांकर्येऽपि भागान् वेत्ति तस्य । कवेः शुक्रस्य जेता । रसो जलम्, तस्य भागान् लभते जलचारित्वात् शुक्रस्य ।

४ '–प्रश्रितः' अविनीतः । विनीतः प्रश्रितः ।

५ 'नैष्ठि–' नैष्ठिकब्रह्मचारी । "नैष्ठिकसुन्दर ! त्वया"–इति कुमारकाव्ये [पञ्चमसर्गे श्लो॰ ६२]

६ 'दैष्टि–' दैष्टिकः शास्त्रवेत्ता दैवपरश्च ।

७ '–हीभृतः' ऋषीणां महीभृतः भूपस्य । तथा तेन प्रकारेण, अब्धेः सागरस्य ऋषीणां 'नेतुः' प्रापयितुर्वृद्धिम् इति शेषः ।

८–'र्चिष्मद्' क्रियाविशेषणम्–सेवितहरनेत्रदहनं यथा स्यात् तथा तपस्यतः ।

---

1 मा॰ द्वि॰ स॰ श्लो॰ ८८ चतुर्थपादः ।

2 मा॰ द्वि॰ स॰ श्लो॰ ८९ चतुर्थपादः ।

3 मा॰ द्वि॰ स॰ श्लो॰ ८२ प्रथमद्वितीयौ पादौ, अत्रापि तौ एव । माघे 'बुद्धिशस्त्रः' इति भिन्नम् ।

4 मा॰ द्वि॰ स॰ श्लो॰ ८३ चतुर्थः पादः । माघे 'रसभावविदः' इति पाठभेदः ।

5 मा॰ द्वि॰ स॰ श्लो॰ ८३ चतुर्थः पादः ।

6 मा॰ द्वि॰ स॰ श्लो॰ ८४ चतुर्थः पादः ।

7 मा॰ द्वि॰ स॰ श्लो॰ ८५ चतुर्थः पादः । माघे 'दशयाभ्यन्तरस्थया' इति पाठः ।

8 मा॰ द्वि॰ स॰ श्लो॰ ८६ चतुर्थः पादः । माघे 'विद्वानपेक्षते' इति ।

9 मा॰ द्वि॰ स॰ श्लो॰ ८७ चतुर्थः पादः ।

10 मा॰ द्वि॰ स॰ श्लो॰ ९० चतुर्थः पादः ।

प्रादुरासन्निर्विकारं शब्दा इव विहायसः[1] ॥ ९७ ॥
अथाकब्बरभूभर्ता गुरुमाजूहवन्मुदा ।
यः सर्वसूरिमालासु नायको नायकायते[2] ॥ ९८ ॥
तदृष्टेर्भूभृदाचष्टे हृष्टो धर्मानुयोजनम् ।
सूरिर्वचांस्युत्ततार स्थाष्णूनि बलवन्ति च[3] ॥ ९९ ॥
श्रेयो दयामयं श्रेयो वाञ्छयेषु प्रतिष्ठितम् ।
जन्तोर्घात-घृणे स्यातां निदानं क्षयसम्पदः[4] ॥ १०० ॥
गङ्गा मान्या प्रतिष्ठादावित्याद्युपदिदेश सः ।
जयन्नेकपदे भट्टान् य उदात्तः स्वरानिव[5] ॥ १०१ ॥
जितकाशी ततः सूरिर्विजहार धरातले ।
वृन्दं प्रबोधयँस्तेजः—समूहः स महीभुजाम्[6] ॥ १०२ ॥
दत्वा विद्वत्पदं विद्या-विजयायोहिवान् गुरुः ।
मत्पट्टेऽयं श्रियाऽपुष्प-बाणः सन्धानमेष्यति[7] ॥ १०३ ॥
ध्यानाध्यक्षः सुरोऽप्यूचे पट्टोदयनगेऽर्कवत् ।
अयं सुधीस्तपोवार-बाणः सन्धानमेष्यति[8] ॥ १०४ ॥
अथास्ति स्तम्भतीर्थाख्या नगरी स्वैर्महोभरैः ।
स्वर्देशांस्तन्वती व्यस्त-प्रदोषमनुगामिनः[9] ॥ १०५ ॥
तत्रायात् सोत्सवं सूरि-र्भूरितेजाः स शूरवत् ।
श्यामयन् दुर्मतींस्तत्र्ान् साग्नीनेधानिवानिलः[10] ॥ १०६ ॥
तत्र सोमाग्रजः श्रेष्ठी श्रीमल्लो भर्भरीभजन् ।
पुण्यश्रियेव पाथोधिर्महानद्या नगापगाः[11] ॥ १०७ ॥
समं सगोत्रैः सोऽन्येद्युः सूरिं व्यज्ञापयत्तराम् ।
ज्ञान-क्रियाभ्यां सर्वेऽनु-गन्तारस्त्वामँतः परे[12] ॥ १०८ ॥

---

१ 'नायको' हारमध्यमणिः ।
२ 'स्थाष्णूनि' साधकानुमानसहितानि । विपक्षे बाधकतर्कसाधूनि ।
३ 'जित–' जिताह्वः ।
४ 'बाणः' श्रिया कान्त्या पुष्पबाणः स्मरः । पुष्पं रागः, बाणः द्वेषः, तद्रहितः—अपुष्पबाणः ।
५ 'व्यस्त–' व्यस्तप्रदोषं यथा स्यात् तथा–यत्र पुरे संध्यासमयो नास्ति ।
६ 'भर्भरी'–भर्भरीशब्दः श्रीपर्यायः औणादिकः । [है० धातुपा० ग० ९ धा० २७ पृ० २४१]
७ '–स्त्वा–त्वाम् अनुगन्तारः ।

---

1 मा० द्वि० स० श्लो० ९१ चतुर्थः पादः ।
2 मा० द्वि० स० श्लो० ९२ चतुर्थः पादः ।
3 मा० द्वि० स० श्लो० ९३ चतुर्थः पादः । माघे 'स्थास्नूनि' इति भेदः । व्याकरणरीत्या तु 'स्थाष्णूनि' इति कथं साधु स्यात् ?
4 मा० द्वि० स० श्लो० ९४ चतुर्थः पादः ।
5 मा० द्वि० स० श्लो० ९५ चतुर्थः पादः ।
6 मा० द्वि० स० श्लो० ९६ चतुर्थः पादः । माघे 'महीभृताम्' इति भेदः ।
7 मा० द्वि० स० श्लो० ९७ चतुर्थः पादः ।
8 मा० द्वि० स० श्लो० ९७ चतुर्थः पादः ।
9 मा० द्वि० स० श्लो० ९८ चतुर्थः पादः । माघे—'धममनुयायिनः' इति भेदः ।
10 मा० द्वि० स० श्लो० ९९ चतुर्थः पादः ।
11 मा० द्वि० स० श्लो० १०० चतुर्थः पादः । माघे 'नगापगा' इति एकवचनम् ।
12 मा० द्वि० स० श्लो० १०१ चतुर्थः पादः ।

कृतकुवलयमोदस्वीयपादप्रसादैस्त्रिजगदपि पुनानः शम्भुसृष्टप्रतिष्ठः ।
व्यहरदवनिपीठेऽप्यैन्दवीं नीतिमङ्कस्थलनियतनिषण्णश्रीः श्रुतां शुश्रुवान् सः[1] ॥ १३० ॥

॥ इति महोपाध्यायश्रीमेघविजयगणिविरचिते श्रीदेवानन्दकाव्ये दिव्यप्रभापरनाम्नि ऐङ्काराङ्के माघ-समस्यायां नायकाभ्युदयवर्णननामा द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः ।

कौ बेरदिग्भागमपास्यमा गैमागस्त्यमुष्णांशुरिवावतीर्णः ।
अपेतयुद् धाभिनि वेशसौम्यो हरिर्हरिप्रस्थमथ प्रतस्थे[2] ॥ १ ॥
जगत्पवित्रैरपि तन्नपादैः स्प्रष्टुं जगत्पूज्यमयुज्यताऽऽर्कैः[3] ।
यतो बृहत्पार्वणचन्द्रचारु तस्यातपत्रं बिभरांबभूवे[3] ॥ २ ॥

---

१ '-ऐन्दवीं नीतिमङ्कस्थ-' ऐन्दवीं नीतिम्-अङ्गीकृतवान् । "अङ्को भूषा-रूपक-लक्ष्मसु" [है० अने० सं० कां० २ श्लो० १] इति अनेकार्थः ।

२ [कौ । बेरदिग्भागम् । अपास्यमा । गैम् । आगस्त्यम् । अपेतयुद् । धाभिनि । वेशसौम्यो । इति पदविभागः] [अर्थश्चैषामेवम्]-स 'हरिः' इन्द्रः स्वामी, 'हरिप्रस्थम्' पर्वततटं प्रति प्रतस्थे । किम्भूतं [हरिप्रस्थम् ?]

'बेरदिग्भागम्' उश्च आ च वा, ताभ्यां युक्ता इश्च लश्च दश्च इ-ल-दाः ते सन्ति अस्मिन् इति [वा+इलद+इन्-वेलदी] वेलदी स चासौ 'ग्' गकारः, तेन भाति ईदृशः अः अकारः तम् गच्छति प्राप्नोति तत् वेलदिग्भागम्-इलादुगम्-इत्यर्थः ।

पुनः किम्भूतम् [इलादुगम् ?] 'गैम्' 'रम्' रकारं गच्छति गैम्-इलादुर्गनाम्ना प्रतीतम् ।

'अपास्यमा' अम् अर्हन्तम्-सिद्धम्, पाति रक्षति-अपः आस्यमा मुखचन्द्रो यस्य । मास्-सकारान्तः चन्द्रवाची ।

'अपेतयुद् अश्च पा च अपौ तयोः ईः लक्ष्मीः यस्य ईदृक् तः तकारः तेन यौति मिश्रीभवति-अपेतयुत् ।

'धाभिनि' न विद्यते भीः यस्य अभिः, स चासौ नीः नायकः, धो धनदः-तद्वद् अभिनीर्यत्र तद् धाभिनि हरिप्रस्थम् ।

'वेशसौम्यो' वा अथवा ईशश्चासौ सौम्यश्च ।

पक्षे 'बेरदिग्भागम्' बेरं शरीरम्, तस्य दिग् देशः-जन्मभूमिः, तत्र भान्ति ईदृशा अगाः पर्वतास्तरवो वा यत्र-[बेर+दिग्+भ+अग] बेरदिग्भागम् ।

'आगस्त्यम्' आगः अपराधः अन्यायः तं त्यजति इति 'ड' प्रत्यये आगस्त्यम् । सौम्यः हरिः मुनीन्द्रः ।

३ [आर्कैः । तन्नपादैः । आतपत्रम् । बृहत्पार्वणचन्द्रचारु । इति विभागः]

'आर्कैः' अरीणां समूहः आरम्, तत् करोति आरयति णिचि क्विपि आर्, स एव आर्कैः-प्रतिपक्षसंघः ।

'तन्नपादैः' स एव भगवान् नपादः पूज्यपादः येषां तैः-तन्नपादैः । "नकारो जिन-पूज्ययोः" इति कोषः [एकाक्षरकोश-श्लो० २२-२३] "नो नाथेऽपि" इति विश्वशम्भुः ।

'जगत्' इति श्लोकस्य अखिलार्थश्चायम्-

आर्कैः प्रतिपक्षसंघः स्वयम् अयुज्यत-कर्मकर्तरि रूपम् । तेन कारणेन तस्य आतपत्रं मुनिगणः बिभरांबभूवे-तस्य गच्छः संभृतः, कैः जगत्पवित्रैर्मुनिभिः, किं० मुनिभिः-स एव भगवान् नपादः पूज्यपादो येषां तैः-तन्नपादैः । यद्वा परगणानां नपादाः पूज्यपादास्तैः । किं कर्तुम् ? जगत्पूज्यं स्प्रष्टुम्-वन्दितुम् ।

'आतपत्रम्' तपं त्रायन्ते तपत्राः मुनयः, आवत् तपत्रा यत्र तत् आतपत्रं गणः कुलं वा । यद्वा तपाऽभावः अतपम् ततः त्रस्यन्ति 'ड' प्रत्यये अतपत्रा मुनयः तेषां समूहः आतपत्रम् । किम्भूतम् ?

'बृहत्पार्वणचन्द्रचारु' बृहन्ति पार्वणानि धर्मकार्याणि येषां ते चन्द्राः चन्द्रशाखिनो मुनयः तैः रम्यम् । बृहत् पार्वणचन्द्र-चारु-पार्वणचन्द्रे चारु निर्मलम् ।

---

1 मा० द्वि० स० श्लो० ११८ चतुर्थपादः । माघे '-निषण्णश्रीश्रु-' इति भेदः ।

2 मा० तृ० स० १ श्लोकः, समस्तोऽपि श्लोकः केवलमत्र पदच्छेदभेदः ।

3 मा० तृ० स० २ श्लोकः अखण्डोऽपि, केवलं पदविभागे भेदः ।

मृणा लसूत्रामलमन्तरेणस्थितश्चलश्चामरयोर्द्वयं सः ।
भेजेऽभितः पा तु कसिद्धसिन्धोरभूतपूर्वां श्रियमम्बुराशेः[1] ॥ ३ ॥
चित्राभिरस्योपरि मौलिभाजां भाभिर्मणीनामनणीयसीभिः ।
नीराजनेवाऽजनि सज्जनौघैर्विनिर्मिते कर्मणि पूजनायाः[2] ॥ ४ ॥
पदे पदे नम्रनृपावतंसप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा ।
भर्तुर्विहर्तुश्चरणाम्बुयोर्नेर्यवाङ्कुरश्रीरनुनीयते स्म[3] ॥ ५ ॥
गुरुश्चलंश्चारुचरित्रपात्रैः परीवृतो नीवृदुपासकैश्च ।
बंहीयसा दीप्तिवितानकेन जिगाय गङ्गाऽर्कसुताप्रसङ्गम्[4] ॥ ६ ॥
कृपालतामङ्कुरयन् मनोन्तश्चचाल तेषामपि भूभुजां सः ।
यैर्वह्निरूपं विदधेऽङ्गभाजां विक्षोभजासृक्स्नपितैरिवाऽसौ[5] ॥ ७ ॥
उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावमर्त्यसिन्धोर्मिलितौ भवेताम् ।
तेनोपमीयेत विभोः प्रवेशे सार्थानुगाभ्युद्गतसङ्गयोगः[6] ॥ ८ ॥
पुरः प्रवेशो दिवसस्य साक्षाद् दध्रे मणिर्दीधितिदीपिताशः ।
माङ्गल्यमुक्तास्रजि नायकत्वं मूर्ध्नि ध्वजस्यार्जुनकुम्भशोभाम्[7] ॥ ९ ॥
मुक्तामयं पादयुगे नतानां भाति स्म दामाऽऽप्रपदीनमस्य ।
अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतमिवोर्ध्वमुच्चैः प्रेम्णा पयस्तत्परिपावनाय[8] ॥ १० ॥
पुरन्दरेणापि पुरः क्षमीन्दोः कल्याणनाम्नाऽभिगमाय चक्रे ।
गजव्रजो राजिकुथैः पयोजैर्यमस्वसुश्चित्र इवोद्ववाहः[9] ॥ ११ ॥
प्रसाधितस्याथ मधुद्विषोऽभूत् लक्ष्मीः सदृक्षा करिणां कुलस्य ।

---

१ मृणा । लसूत्रा । आम । लम् । अन्तर्-एणस्थितः । च । आम । रयोर्द्वयम् । अमितः । पा । कसिद्धसिन्धोः । अम्बुराशेः । इति पदविभागः]

मृणा हिंसा, लम् लोपनम्, आम जगाम-प्राप । [किम्भूता मृणा ? लसूत्रा-लोपनं सूत्रं यस्याः सा-लोपनसूत्रा-लोपकारिणी-सर्वसंहारिणी] "अम द्रम हम्म मीमृ गम्लृ गतौ"

'अन्तर् एणस्थितः' अन्तर् चित्ते एणस्थः चन्द्रः शान्तिजिनो वा जातः अस्मिन् इति एणस्थितः ।

'च आम रयोर्द्वयम्' आम प्राप । रयोः लयो-लक्ष्म्योः, द्वयम्-युगलम् । "लं लोपनम्" [एकाक्षरकोश-श्लो० २९-३१] "ला लक्ष्मीः" इति च विश्वशम्भुः ।

'अभितः' भं भयम् जातं यस्यासौ भितः-न भितः अभितः ।

'पा' स्वामी ।

'कसिद्धसिन्धोः' कानाम्-आत्मनां सिद्धः सिन्धुः संसाररूपो यस्मात् स तस्य ।

२ अम्बुराशेः सागरपक्षस्य-[सागरान्तमुनिशब्दप्रसिद्धस्य यथा 'चन्द्रसागरमुनि' इत्यादिकस्य] पा स्वामी अभूतपूर्वां श्रियम्-अश्रियं भेजे ।

३ 'असौ' करवाले ।

---

1 मा० तृ० स० ३ श्लोकः अक्षरशः अत्र न्यस्तः पदविभक्तिरन्यथा । माघे तु '-ऽभूतपूर्वां रुचमम्बुराशेः' इति भेदः ।

2 मा० तृ० स० श्लोक ४, अत्र अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धं पूर्वार्धतया उपन्यस्तम् ।

3 मा० तृ० स० श्लो० ५ द्वितीयचरणमत्र द्वितीयतया ।

4 मा० तृ० स० श्लो० ६, अस्य तृतीयचरणमत्र तृतीयचरणतया ।

5 मा० तृ० स० श्लो० ७ चतुर्थचरणम् ।

6 मा० तृ० स० श्लो० ८ प्रथमपादः अत्र प्रथमपादतया । अन्यदपि साम्यं दृश्यते ।

7 मा० तृ० स० श्लो० ९ द्वितीयचरणमत्र द्वितीयचरणतया ।

8 मा० तृ० स० श्लो० १० द्वितीय-तृतीयचरणौ अत्रापि तथैव ।

9 मा० तृ० स० श्लो० ११ चतुर्थः पादः । "-श्चित्र इवोदभारः" इति पाठभेदो माघे ।

वियत्प्रयुक्तक्रमपुष्करस्य वराहदेहेन महीं दिधीर्षोः[1] ॥ १२ ॥
अनन्तनागाभरणस्य चाग्रस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य ।
न पार्वती श्रीर्बिभिदे भवाद्वा विष्णोरिवागात् करिणां व्रजस्य[2] ॥ १३ ॥
प्रवृत्तिसिन्धोः पुलिने ललन्त्या भृङ्गावलेस्ताण्डवमण्डपौ वै ।
प्रकाशकार्कश्यगुणौ दधानाः कुम्भाविभाश्चेलुरभि क्षमीन्द्रम्[3] ॥ १४ ॥
ते नागजाऽभ्यक्तवराङ्गभागा नागा विरेजुश्चलिता इवागाः ।
येषां गतेर्नागपतिः शुचेऽभूद् नितान्तमाक्रान्त इवाङ्गनानाम्[4] ॥ १५ ॥
यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षीं तत्कुम्भदृश्वा स्तनसाम्यशंसी ।
सा सा ह्रिया नम्रमुखी सुमुक्तास्रजो मणिं दर्शयति स्म तस्मै[5] ॥ १६ ॥
तस्याऽतसीसूनसमानभासो गर्जत्पयोदेन समस्य मूर्त्या ।
न हास्तिकस्योज्ज्वलकिङ्किणीभिर्बलाहकश्रेणिरुचिर्न चक्रे[6] ॥ १७ ॥
कुम्भस्थलस्थापितरौप्यकुम्भ-भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन ।
गौराङ्गगर्वाद् गजयूथनाथा मदेन शक्रद्विपमन्वकार्षुः[7] ॥ १८ ॥
आधोरणैः स्वाङ्गविभूषणान्तः-सङ्क्रान्तकान्ताचलदृक्सहस्रैः ।
नित्यं हरेः सन्निहिता निकामं सहस्रनेत्री व्यभिचार्यते स्म[8] ॥ १९ ॥
प्रफुल्लसप्तच्छदसन्धिगन्धिरनन्यसाधारणतां दधानः ।
चकार लाजोत्किरणं किमुच्चैर्गजव्रजः पुष्करसीकरेण[9] ॥ २० ॥
स्पृशंश्च नासाऽवयवैर्धरित्रीं व्यूहो द्विपानां धरणीधवस्य ।
राज्यश्रियो भद्र इति प्रतीतेर्नाम्नापि तस्यैव स नन्दकोऽभूत्[10] ॥ २१ ॥
न नीतमन्येन नतिं कदाचिद् धराधवः सादिबलं बलीयः ।
बलाङ्कोत्फुल्लवनश्रि सार्द्धमादाय सूरीन्दुमभिप्रतस्थे[11] ॥ २२ ॥
बिभर्ति यामैन्दवबिम्बभासाऽकृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः ।

१–'पुष्करस्य' कृष्णपक्षे चरणकमलम् । पक्षे पुष्करं शुण्डाग्रम् ।

२–'नागाभरणस्य' कृष्णपक्षे अनन्तः शेषनागः । हरपक्षे बहुसर्पभूषणस्य । नागाः करिणोऽपि ।

३–'ललनस्य' ललना स्त्री हस्तिनी च ।
"स्फुटिक-मरकतश्रीहारिणोः प्रीतियोगात्
तदवतु वपुरेकं काम-कंसद्विषोर्वः ।
भवति गिरिसुताया नित्यमम्भोधिजायाः
सदृशमहसि कण्ठे यत्र सीमाविवादः" ॥ [अयं श्लोकः, 'अनन्तनागा'–इत्यादिश्लोकभावेन साम्यं बिभर्ति]

४ 'व' उपमायाम्

५–'मुक्तास्रजो' मुक्तास्रग्दर्शनात् मम स्तनशोभानिर्जितौ कुम्भौ मुक्तादण्डं ददतुः–मुक्ताः स्तनयोराभरणानि बभूवुः इति भावः ।

६–'त्फुल्लवन–' वसन्तेन उत्फुल्लं यद् वनम् तद्वत् श्रीर्यस्य तत् ।

७ '–न्दवबिम्ब–' चन्द्रभासा उज्ज्वलो यः अर्णवः ।

1 मा० तृ० स० श्लो० १२ प्रथमपादोऽत्र प्रथमपादतया ।

2 मा० तृ० स० श्लो० १३ द्वितीयपादो द्वितीयपादतया ।

3 मा० तृ० स० श्लो० १४ तृतीयपादोऽत्र तृतीयपादतया ।

4 मा० तृ० स० श्लो० १५ चतुर्थपादः ।

5 मा० तृ० स० श्लो० १६ प्रथमपादोऽत्र प्रथमपादतया । माघे 'कातराक्षी' इति भेदः । अत्रत्यं तृतीयचरणमपि १६ श्लोकगतद्वितीयचरणेन सह साम्यं बिभर्ति ।

6 मा० तृ० स० श्लो० १७, अस्य प्रथमपादोऽत्र प्रथमपादतया ।

7 मा० तृ० स० श्लो० १७, द्वितीयपादोऽत्र द्वितीयपादतया ।

8 मा० तृ० स० श्लो० १८, अस्य तृतीयचरणमत्र तृतीयतया ।

9 मा० तृ० स० श्लो० १९ द्वितीयपादो द्वितीयपादतया ।

10 मा० तृ० स० श्लो० १९ चतुर्थचरणमत्र चतुर्थतया ।

11 मा० तृ० स० श्लो० २०, अस्य प्रथमचरणमत्र प्रथमतया ।

स सूरिराट् तामुदुवाह शोभामभ्यापतत्सादिबलान्तिकस्थः[1] ॥ २३ ॥
विवन्दिषुः सूरिपदारविन्दं महीधवः सैन्धव[१]मारुरोह ।
महारथः पुष्यरथं रथाङ्गी[२] साक्षादिवोक्षाणमिव त्रिनेत्रः[2] ॥ २४ ॥
नृपेऽधिरूढे क्रमतः प्लुतानि चकार धाराचतुरस्तुरङ्गः ।
सव्याक्षिदृष्टो हरिणा विहायस्तलं विविक्षन्निव पन्नगारिः[3] ॥ २५ ॥
यियासतस्तस्य महीध्ररन्ध्रभिदां पटीयान् पटहप्रणादः ।
गन्धर्वराजा[३]मधिमण्डलाङ्कं प्रोत्साहयामास नटप्रवृत्तिम्[4] ॥ २६ ॥
अजर्यं[४]जयं नृपवाजिराजां धत्रीं धरित्र्याः फणिना ततोऽधः ।
तत्क्लान्तिमेते चलपुच्छवातैरुत्क्षिप्य पांशुं शमयाम्बभूवुः[5] ॥ २७ ॥
गजैः सवीतै[५]स्तुरगैर्विनीतैर्युतानि संसक्तभटाऽयुतानि ।
क्रियाफलानीव सुनीतिभाजं बलानि भूनायकमन्वयुस्तम्[6] ॥ २८ ॥
जनैरहंपूर्विकया प्रणुन्नधुरीणभावात् पतिते सुवर्णे ।
पिष्टेऽरिणा[६] रेणुकणाः सुवर्णक्षोदद्युतश्चुक्षुदिरे रथौघैः[7] ॥ २९ ॥
न लङ्घयामास महाजनानां शिरांसि रेणुः करिणां मदार्द्रः ।
यतीशितुः किन्तु पदप्रसादाद् धरातलस्योद्धुषणं[७] शशंस[8] ॥ ३० ॥
नतत्रिको[८]त्साहरसेन वाहा मुहुर्यदुच्चिक्षिपुरग्रपादौ ।
विरेजुरुच्चैःश्रवसं तदुच्चैर्विजेतुकामा इव सम्मुखीने[9] ॥ ३१ ॥
क्रमात् पुरानिर्मितसख्यसौख्यान् सह[९] प्रवृद्धान् भुवनप्रसिद्धान् ।
प्रक्रीडितान् रेणुभिरेत्य तूर्णं ननाम सूरीनवनीदिनेशः[10] ॥ ३२ ॥
चतुर्विधः सङ्घजनोऽप्यनंसीदपूर्ववत् तानपि पूर्वदृष्टान् ।
अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवं नवं प्रीतिरहो करोति[11] ॥ ३३ ॥
उपेयुषो वर्त्म निरन्तराभिरस्तोकलोकस्य नतिक्रियाभिः ।
प्रतीक्ष्यमाणोऽथ गुरुः सुधर्मलाभाशिषा पूर्जनमभ्यनन्दत्[12] ॥ ३४ ॥

---

१ 'सैन्धव-' अत्रायं भावः-पूर्वं राजा गजेऽधिरूढः पश्चात् श्रीगुरौ दूराद् दृष्टे विनयाद् अश्वेऽधिरूढः ।
२ 'रथाङ्गी' चक्री ।
३ 'गन्धर्वराजाम्' अश्वरत्नानाम् ।
४ 'अजर्यम्' सौहार्दम्-अजनि ।
५-'वीतै'-''यातमङ्कुशवारणम् । निषादिनां पादकर्म यतं वीतं तु तद् द्वयम्" ॥ इति कोषः ।
६ 'अरिणा' चक्रेण ।
७-'द्धुषणं' रोमोद्गमम् ।
८ '-त्रिको-' ''अग्रकायसमुल्लासात् कुञ्चितास्यं नतत्रिकम्" ।
९ 'सह' इति सर्वत्र योगः-सह प्रवृद्धान्, सह भुवनप्रसिद्धान्, सह रेणुप्रक्रीडितान् ।

---

1 मा० तृ० स० श्लो० २१ द्वितीयपादो द्वितीयतया ।
2 मा० तृ० स० श्लो० २२ तृतीयपादोऽत्र तृतीयतया ।
3 मा० तृ० स० श्लो० २३ चतुर्थपादः ।
4 मा० तृ० स० श्लो० २४ अविकलं पूर्वार्धं पूर्वार्धतया । माघे '-रन्ध्रभिदापटीयान्' इति भेदः ।
5 मा० तृ० स० श्लो० २५ द्वितीयपादोऽत्र द्वितीयतया ।
6 मा० तृ० स० श्लो० २६ तृतीयचरणमविकलं तृतीयचरणतया, चतुर्थं तु माघे 'सैन्यानि सोमान्वयमन्वयुस्तम्' इति ।
7 मा० तृ० स० श्लो० २७ चतुर्थपादः ।
8 मा० तृ० स० श्लो० २८ प्रथमपादोऽत्रापि प्रथमपादः ।
9 मा० तृ० स० श्लो० २९ द्वितीयपादो द्वितीयतया । माघे '-रग्रपादान्' इति ।
10 मा० तृ० स० श्लो० ३० तृतीयचरणमत्र तृतीयतया ।
11 मा० तृ० स० श्लो० ३१ उत्तरार्धमत्राविकलमुत्तरार्धतया ।
12 मा० तृ० स० श्लो० ३२ प्रथमचरणमत्र प्रथमचरणतया ।

परिष्कृतत्वेन दिशः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनभूमिभासा ।
दिनोदयस्य श्रियमाश्रितानां यतीश्वराणां पुरतः शशंस[1] ॥ ३५ ॥
प्रविश्य तस्यां पुरि पौरनन्दी गणाग्रणीस्तां वसतिं पुपाव ।
अनिर्विदा[१] या विदधे विधात्रा भुवो विभूषेव भुविर्[२]जयाय[2] ॥ ३६ ॥
पुरी सनाथा प्रभुणा जनानां गतागतैर्वृद्धिमतीव चक्रे ।
सनेमिनीं[३] द्वारवतीं सखीं तां छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु[४][3] ॥ ३७ ॥
रथाङ्गभर्त्रेऽभिनवं वराय हरिर्यथा द्वारवतीं ससर्ज ।
तथैव मन्ये गुरवे ध्रुवेण विनिर्मिता नर्मवती पुरीयम्[4] ॥ ३८ ॥
पयोधिना[५] तुङ्गतरङ्गरङ्गच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन ।
पुरी दधौ साम्यमहो महौघे तदाभिनृत्यत्तुरगिप्रवृत्त्या[5] ॥ ३९ ॥
निनंसया सङ्गतपौरनारीस्नानैस्तडागोऽत्र तदा तरङ्गैः ।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतां जगाहे[6] ॥ ४० ॥
हल्लीसकैः प्राप्तपरिश्रमाणामुपेयुषीणां पुलिनेऽङ्गनानाम् ।
सरोऽविलम्बादिव मानमत्र विस्तारयामास तरङ्गहस्तैः[7] ॥ ४१ ॥
यत्सालमुत्तुङ्गतया विजेतुं शशाक न स्वःप्रभुवैजयन्तः ।
तत्र न्यवात्सीन्नरनाथमन्त्री वणिक्षु सभ्यः सहजूर्महेभ्यः[8] ॥ ४२ ॥
चतुःसमा[६]मर्दविसन्धगन्धः प्राकारभित्त्या सहसा[७] निषिद्धः ।
निर्गत्य यत्सौधगवाक्षमार्गे प्रादुर्विचक्रे चरितं गृहस्य[9] ॥ ४३ ॥
अथान्यदासौ गुरुमाह मन्ये त्वदुद्भवादेव शिवाय देवैः ।
आराधितोऽद्धा[८] मनुरप्सरोभिः प्रसादितोऽसूत कुलाग्रिमं ते[10] ॥ ४४ ॥
त्वत्पूर्वजाः केचिदिहैव पूर्वं जातास्त्रिवर्गाचरणैः सुरार्च्याः ।
यद्योषितः स्फाटिकसौधमूर्ध्नि नभोगता देव्य इव व्यराजन्[11] ॥ ४५ ॥
कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु त्वत्पूर्वजानामिह मन्दिरेषु ।

---

१ 'अनिर्विदा' या पुरी निर्वेदः स्वावमाननम् तद्रहितेन सोत्साहेन कृता ।

२ 'भुविर्'–स्वर्ग–

३ '–नेमि–' समासान्तविधेः अनित्यत्वाद् न कच् ।

४ '–जलधेर्जलेषु' या जलधेर्जलेषु स्वः स्वर्गस्य छाया इव प्रतिबिम्बमिव अस्ति तां द्वारवतीं सखीं चक्रे–लक्षणया तुल्या आसीत् ।

५ 'पयोधिना' समुद्रेण समम् ।

६ 'चतुःसमा'–''कर्पूरा-ऽगरु-कक्कोल-कुङ्कुमैस्तु चतुःसमम्''

७ 'सहसा' इत्यव्ययं नानार्थे अव्ययानामनन्तार्थत्वात् । गन्धः कर्ता ।

८ 'आराधितोऽद्धा' देवैः आराधितः अप्सरोभिः प्रसादितः । अद्धा निश्चितम् ।

---

1 मा० तृ० स० श्लो० ३३ द्वितीयचरणमत्र द्वितीयचरणतया । माघे '–नवप्रभासा' इति ।

2 मा० तृ० स० श्लो० ३४ तृतीयचरणमत्र तृतीयचरणतया ।

3 मा० तृ० स० श्लो० ३५ चतुर्थपादः ।

4 मा० तृ० स० श्लो० ३६ प्रथमचरणमत्र प्रथमतया ।

5 मा० तृ० स० श्लो० ३७ द्वितीयपादो द्वितीयतया ।

6 मा० तृ० स० श्लो० ३८ उत्तरार्धमत्र अविकलमुत्तरार्धतया, केवलं माघीय 'अवाप' स्थाने अत्र 'जगाहे' क्रिया ।

7 मा० तृ० स० श्लो० ३९ चतुर्थपादः ।

8 मा० तृ० स० श्लो० ४० प्रथमचरणमत्र प्रथमतया । माघे 'यच्छाल–' इति भेदः ।

9 मा० तृ० स० श्लो० ४१ द्वितीयपादो द्वितीयतया ।

10 मा० तृ० स० श्लो० ४२ तृतीयपादो तृतीयतया ।

11 मा० तृ० स० श्लो० ४३ चतुर्थपादः ।

छाया विरेजुर्विलसद्वधूनां शरीरभाजः कमला इवैषाम्[1] ॥ ४६ ॥
तवागमादेव ततो विशेषाज्जालागताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः ।
इहोच्छलद्भूरिसुमावलीभ्यः प्रकाशमभ्यस्य दृशोर्दिशन्ति[2] ॥ ४७ ॥
त्वद्दृष्टिसम्भावनयाश्रयालीं पीयूषयूषात्मतयेव शुभ्राम् ।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः स्ववेषवर्णैर्विविधामिहाद्य[3] ॥ ४८ ॥
अथात्र शिष्ये स्वपदप्रतिष्ठां प्रणीय नः प्रीणय चित्तनिष्ठाम् ।
महः क्रियान्मेऽस्य गृहे [१]स्वबिम्बैः सजीवचित्रा इव रत्नभित्तीः[4] ॥ ४९ ॥
गुरोर्गिरः श्रुत्युदितप्रसत्तेस्तदा स्मिता पाण्डुकपोलकाभ्याम् ।
बिम्बे [२]सवर्णेऽपि सुवर्णलिप्त-स्तम्भेषु भेजे नवदर्पणश्रीः[5] ॥ ५० ॥
[३]शुकाङ्गनीलोत्पलनिर्मितानां स्रजां विलेसुः प्रतिसद्म राज्यः ।
कटाक्षमाला इव पर्वलक्ष्म्यास्तथेति साधु प्रभुणाऽभ्युपेते[6] ॥ ५१ ॥
मणीमयेष्वङ्गणकेषु धाम्नां लिप्तेषु भासा गृहदेहलीनाम् ।
अन्तःस्थिताऽपीन्दुमुखी [४]तदाऽऽसीद् अभ्यागतेवार्थिजनाय दातुम्[7] ॥ ५२ ॥
तत्रोत्सवस्य श्रवणामृतेन नाभूत् पुरी सा श्रवणेन तूर्णम् ।
यस्यामलिन्देषु न चक्रुरेव लोकाः स्वधाम्नां प्रतिकर्म नर्म[8] ॥ ५३ ॥
अस्याः स्वसेवास्ति पुरी द्वितीया पार्श्वेऽद्वितीया खलु साबलीति ।
न वेद यस्यां मणिकुट्टिमत्वात् मुग्धाङ्गना गोमयगोमुखानि[9] ॥ ५४ ॥
गोपानसीषु क्षणमास्थितानां दिदृक्षयाऽभ्येत्य दिवो वधूनाम् ।
जालेषु लीलालसमानुषीणां मुखेन सख्यं समुदेत्यमुष्याम्[10] ॥ ५५ ॥
नृत्यप्रलोभाद् वलभीस्थितानामालम्बिभिश्चन्द्रकिणां कलापैः ।
जातातपत्रप्रभया प्रभुत्वं या व्यञ्जयामास पुरी पुरीणाम्[11] ॥ ५६ ॥
स्फुरत्करैरप्यकरैर्विलास-व्यासक्तरामैरपि चाऽविरामैः ।
रेजे विचित्रैरपि या सचित्रैर्गृहैर्विहारैरपि हारिहारैः[12] ॥ ५७ ॥
अथैत्य तस्यां पुरी सूरिमन्त्र-दिध्यासयाऽधत्त स धारणां ताम् ।
अन्तर्निलीनेन्द्रियवृत्तिरेनं [५]यस्यां जनः कृत्रिममेव मेने[13] ॥ ५८ ॥

---

१ 'स्वबिम्बैः' स्वेषां सगोत्राणां बिम्बैः संक्रान्तैः ।

२ 'सवर्णे–' गुरोः सुवर्णवर्णत्वात् बिम्बे सवर्णे समानेऽपि स्मितेन ईषत्पाण्डुकपोलकाभ्यां पाण्डुत्वात् सुवर्णलिप्तस्तम्भेषु नवदर्पणश्रीर्भेजे ।

३ 'शुकाङ्ग–' शुकाङ्गवन्नीलानि यानि उत्पलानि ।

४ 'तदाऽऽसीद–' तदा तस्मिन् समये आसीत् ।

५ 'यस्याम्' धारणायाम् ।

---

1 मा० तृ० स० श्लो० ४४ प्रथमपादः प्रथमतया ।

2 मा० तृ० स० श्लो० ४५ द्वितीयपादो द्वितीयतया ।

3 मा० तृ० स० श्लो० ४६ तृतीयपादः तृतीयतया ।

4 मा० तृ० स० श्लो० ४६ चतुर्थपादः ।

5 मा० तृ० स० श्लो० ४७ चतुर्थपादः । माघे तु 'मणिदर्पणश्रीः' इति भेदः ।

6 मा० तृ० स० श्लो० ४८ प्रथमपादः प्रथमतया ।

7 मा० तृ० स० श्लो० ४८ द्वितीयपादो द्वितीयतया ।

8 मा० तृ० स० श्लो० ४८ तृतीयपादः तृतीयतया ।

9 मा० तृ० स० श्लो० ४८ चतुर्थपादः चतुर्थतया ।

10 मा० तृ० स० श्लो० ४९ प्रथमपादः प्रथमतया ।

11 मा० तृ० स० श्लो० ४९ द्वितीयपादो द्वितीयतया ।

12 मा० तृ० स० श्लो० ५० तृतीयपादः तृतीयतया ।

13 मा० तृ० स० श्लो० ५१ चतुर्थपादः ।

क्षितिप्रतिष्ठोऽपि मुखारविन्दैर्धितद्युतोष्णांशुरिवाऽप्रधृष्यः ।
ज्वलत्तपोज्योतिरसौ समाधिं दधज्जिगाय द्युसदीशतेजः[1] ॥ ५९ ॥
तदेयुषीर्देववधू[१]र्विलासै रागं विविक्ता इव वर्द्धयन्तीः ।
योगाद् गुरुं क्षोभयितुं न दक्षा बबाधिरे धीरकटाक्षलक्षाः[2] ॥ ६० ॥
रम्भाः स्मरं भावयितुं मनोन्तर्मधुं व्यधुस्तेन मणीचकानाम् ।
मधूनि वक्त्राणि च कामिनीनामन्योन्यमामोदविवादमीयुः[3] ॥ ६१ ॥
प्रियैः प्रियैर्वचसां विलासैः स्त्रियः प्रसन्ना विहिता रतान्तः ।
सख्याः शुकस्तान्[२]निवदंस्तदान्ते-वासित्वमाप स्फुटमङ्गनानाम्[4] ॥ ६२ ॥
छन्नेष्वपि[३] स्पष्टतरेषु यत्र पिकानुवादान्मणितेषु सख्यः ।
प्रत्यायिताः सङ्गमरङ्गसौख्यं भेजुः स्वयं जातफलाः कलानाम्[5] ॥ ६३ ॥
वासांसि लज्जावधये धृतानि स्वच्छानि नारीकुचमण्डलेषु ।
करप्रयोगस्य भियेव नूनं नाविघ्नयंस्तत् प्रियदृष्टिपातान्[6] ॥ ६४ ॥
रतप्रवृत्तौ शतधा बभूवुः क्व वोन्नतानां तनुभिर्निरोधः [इति वा पाठः] ।
लतामिलच्छाखिषु तत्प्रवृत्ति-ह्रीरक्षणायेव वधूधृतानि ।
आकाशसाम्यं दधुरम्बराणि रतश्रमाम्भःपृषदाऽऽर्द्रितानि[7] ॥ ६५ ॥
अविक्रियं चेति मधुक्रियाभिस्तमैक्ष्य रम्भाः प्रणिधानशुद्धम् ।
स्वविभ्रमं विभ्रममेव जज्ञुर्न नामतः केवलमर्थतोऽपि[8] ॥ ६६ ॥
यस्यामजिह्मा[४] महतीमपङ्कां[५] भक्तिं वितेनुर्गणधारिणोऽपि ।
सूरेः क्रमाच्छासनदेवताऽऽविर्बभूव[६] सा भक्तिवशात् सहर्षा[9] ॥ ६७ ॥
भवादृशा ध्यानधिया स्वयोगसीमानमत्यायतयो[७]ऽत्यजन्तः ।
स्मरन्ति मे श्रीप्रभवस्ततोऽहं धन्येति साऽऽभाष्य गुरूननंसीत्[10] ॥ ६८ ॥
यदर्थमुद्यत्तपसा त्वयाहं स्मृता तदाज्ञापय देव ! सद्यः ।
जनैरजातस्खलनै[८]र्न जातु भवादृशैर्ध्येयमिहार्थवन्ध्यम्[11] ॥ ६९ ॥

१–'वधू–' २–३ द्वितीयाबहुवचनम् । देववधूः कटाक्षलक्षा बबाधिरे–उपतापाय जाता इति भावः । किम्भूताः कटाक्षलक्षाः ? धीराः अनिमेषत्वात् ।

२ 'तान्' वचोविलासान् ।

३ इतः चत्वारि अपि पदानि समस्यन्ते अधिकारबहुलानुरोधात् ।

४–'मजिह्मा' अवक्राः आर्जवसहिताः ।

५–'मपङ्काम्' अपापाम् ।

६–'विर्बभूव' प्रत्यक्षा अभूत् ।

७–'त्यायतयो–' अतिआयतयः अतिशोभनोत्तरकालाः । "अतिरतिक्रमे च" [३।१।४५] इति तत्पुरुषसमासः । शोभनो राजा अतिराजा ।

८–'स्खलनै'–निरतीचारैः ।

---

1 मा० तृ० स० श्लो० ५२ प्रथमपादः प्रथमतया । माघे '–रविन्दैर्' इति ।

2 मा० तृ० स० श्लो० ५३ द्वितीयपादो द्वितीयतया ।

3 मा० तृ० स० श्लो० ५४ उत्तरार्धमुत्तरार्धतया, केवलम् अक्षरभेदः ।

4 मा० तृ० स० श्लो० ५५ चतुर्थपादः ।

5 मा० तृ० स० श्लो० ५६ प्रथमपादः प्रथमतया ।

6 मा० तृ० स० श्लो० ५६ द्वितीयः पादो द्वितीयतया ।

7 मा० तृ० स० श्लो० ५६ तृतीयः पादः तृतीयतया ।

8 मा० तृ० स० श्लो० ५६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

9 मा० तृ० स० श्लो० ५७ प्रथमः पादः प्रथमतया । माघे '–मपङ्काः' इति ।

10 मा० तृ० स० श्लो० ५७ द्वितीयः पादो द्वितीयतया ।

11 मा० तृ० स० श्लो० ५७ तृतीयः पादः तृतीयतया ।

को यौवराज्यश्रियमर्हतीति श्रुत्वा गुरोर्वाचमुवाच देवी ।
समेऽपि शिष्या उचिता हि यैर्न द्वये[१]ऽप्यमुच्यन्त विनीतमार्गाः[1] ॥ ७० ॥
परस्परस्पर्द्धिपरार्द्ध्यरूपा जितेन्द्रिया ज्ञप्तिगुरुस्वरूपाः ।
शिष्यास्तवैतेषु गुणैः प्रधानः श्रीपाठकोऽसौ कनकाभिधानः[2] ॥ ७१ ॥
कलाः[२] कलाः सर्वकलाङ्गनासु पौरस्त्रियो यत्र निधाय वेधाः ।
स्वकोशमध्यादिव तत् ततस्ता यथार्हमादाय जगत्सु युङ्क्ते[3] ॥ ७२ ॥
स्थानेऽस्य दीक्षैव यदेतदर्हां कन्यां विधातुं विदुषो[३] न वेधाः ।
श्रीनिर्मितिः प्राप्तघुण[४]क्षतैकवर्णस्वरूपाऽस्य जरत्तरस्य[५][4] ॥ ७३ ॥
शङ्के ततः किं जनरञ्जनाय श्रियं स नव्यामिव योजयित्वा ।
प्रत्याददानः स्वघुणप्रणीतवर्णोपमावाच्यमलं ममार्ज[5] ॥ ७४ ॥
क्षुण्णं यदन्तःकरणेन वृक्षास्तदेव दिव्याः प्रतिसाधयन्ति ।
इतीव मन्ये गुरुचिन्तितोऽर्थः समर्थितः शासनदेवतोक्तैः[6] ॥ ७५ ॥
यच्चेतसाऽचिन्ति धनादि सालाः फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव ।
गुरुः प्रसत्त्येह परत्र भोगाना[६]भोगरूपान् दिशति ह्यचिन्त्यान्[7] ॥ ७६ ॥
क्रमात् समाधेरुपरम्य सम्यक् सूरेरिलादुर्गपुरि प्रवेशे ।
अध्यूषुष[७]स्तामभवन् जनस्य मनोमुदः स्वर्गसदोऽपि वन्द्याः[८][8] ॥ ७७ ॥
पद्मप्रतिष्ठास्पदवेदिकायां विस्तारयामास जनाश्रयान्तः ।
स श्रेष्ठिमुख्यः सहजूर्मणीभिर्याः सम्पदस्ता मनसोऽप्यगम्याः[9] ॥ ७८ ॥
कला दधानः सकलाः स्वभाभिरुद्भासयन् सौधसिताभिराशाः ।
तन्मण्डपे मौक्तिकरत्नराशिश्चकार नीचैर्भगणं द्विधा[९]ऽपि[10] ॥ ७९ ॥
सुदुर्लभां सोदर[१०]वल्लभामप्यभङ्गसौभाग्यभरेण पार्श्वात् ।

---

१ 'द्वये–' लौकिक–लोकोत्तररूपभेदात् ।

२ 'कलाः' पाठकस्य नागर्यः–प्रधानाः मुख्याः । अन्यकलास्तु ग्रामीणवनिताः

३ 'विदुषो' विदुषशब्दः औणादिकः पाण्डित्ये ।

४ 'प्राप्तघुण–' प्राप्तं घुणक्षतैकवर्णस्वरूपं यया सा ।

५ 'जरत्तरस्य' इत्यनेन जरायां शिल्पिनः शिल्पक्रियाक्षमत्वज्ञापनं घुणाक्षरन्यायसमर्थनं च ।

६ 'आभोग–' विस्ताररूपान् ।

७ 'अध्यूषुष–' ताम् इलादुर्गनाम्ना 'ईडर' इति प्रसिद्धां पुरीं वासेन आश्रितस्य ।

८ 'वन्द्याः' प्रशस्याः स्तवनीयाः ।

९ 'द्विधाऽपि' उज्ज्वलेन कान्त्या च इति द्विधा ।

१० 'सोदर–' सोदरवल्लभां लक्ष्मीम् । चन्द्रपक्षे सोदरां भगिनीम्, प्रियाम् इष्टाम्–ततो विशेषणसमासः ।

---

1 मा० तृ० स० श्लो० ५७ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

2 मा० तृ० स० श्लो० ५८ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

3 मा० तृ० स० श्लो० ५८ द्वितीयः पादः द्वितीयतया । माघे 'विधाय' इति ।

4 मा० तृ० स० श्लो० ५८ तृतीयः पादः तृतीयतया । माघे 'श्रीनिर्मितिप्राप्त–' इति ।

5 मा० तृ० स० श्लो० ५८ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

6 मा० तृ० स० श्लो० ५९ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

7 मा० तृ० स० श्लो० ५९ द्वितीयः पादः द्वितीयतया । माघे "–स्वदैव" इति ।

8 मा० तृ० स० श्लो० ५९ तृतीयः पादः तृतीयतया । माघे 'अध्यूषुषो यामभवन् जनस्य' इति ।

9 मा० तृ० स० श्लो० ५९ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

10 मा० तृ० स० श्लो० ६० पूर्वार्धं पूर्वार्धतया ।

गुरोर्निशम्यागमनं कुमारैः संवर्द्धिताः स्वस्वपुरे पुरेशाः[1] १०३ ॥
आपूर्यमाणोत्तमतूर्यनादैः स्खलत्खलीनं हरिभिर्विलोलैः ।
संयोज्य सैन्यं च मुदाऽभिजग्मुः संदेशतोऽस्मादथ देशमुख्याः[2] ॥ १०४ ॥
देशान्नरेशाः प्रमदाभिवेशात् तथा रथाश्वेभभरेण चेलुः ।
परस्परोत्पीडितजानुभागाः नागाद् यथा तत्र तिलोऽपि भूमिम्[3] ॥ १०५ ॥
स्मरध्वजानां ध्वनिभिर्ध्वजानां चलाश्चलैर्जातभियां हरीणाम् ।
धारोद्धुरत्वात् सरलाध्वगत्या दुःखेन निश्चक्रमुरश्ववाराः[4] ॥ १०६ ॥
निरन्तरालेऽपि विमुच्यमाने मार्गे नृपाद्यैः पुरतश्चलद्भिः ।
पदं दधानो गुरुरीर्ययैव प्रतिस्थलं तीर्थमधत्त देशम्[5] ॥ १०७ ॥
श्रद्धावतासावनुगम्यमानो दूरं पथि प्राणभृतां गणेन ।
ग्रामादनुग्रामविहाररीत्या सीरोहिकां प्राप मुनिप्रजापः[6] ॥ १०८ ॥
विवन्दिषाऽभ्युद्गतसङ्घलोकैः समं निषेव्यैरभिरूपरूपैः ।
तेजोमहद्भिस्तमसीव[१] दीपैः प्रावेशि तस्यां वशिनां[२] वनीपैः[7] ॥ १०९ ॥
तेजोऽग्रिमैर्वास्तव[३]भाविपौरैर्निर्मीयमाणेषु महेषु तत्र ।
कियाननेहाः सकृपैर्गणीन्द्रद्धिपैरसंबाधमयाम्बभूवे[8] ॥ ११० ॥
शनैरनीयन्त रयात् पतन्तो देवांह्रिपद्मे वणिजः प्रणन्तुम् ।
निजैर्निशायां विविधैरुपायैः प्रबोध्य धामाधिकधर्मलुब्धाः[9] ॥ १११ ॥
क्रमादमुष्या मुनिमुख्ययाने रथाः क्षितिं हस्तिनखादखेदैः ।
नीता विना यत्नमपीभ्यरथ्यैस्तथैकबालाकलनादलुब्धैः[10] ॥ ११२ ॥
प्रत्युद्ययौ श्रीजयमल्ल[४]राजः स्पर्द्धानुधावद्बलसङ्घराजः ।
सयत्नसूताऽऽयतरश्मिभुग्नग्रीवाश्वभास्वद्रथभूषिताध्वा[11] ॥ ११३ ॥
वश्याऽस्य सोमालकरैश्चचालाऽचलानुरागादिव कृष्यमाणा ।
समं समुद्यद्भिरनो[५]ऽनुबन्धाद् ग्रीवाग्रसंसक्तयुगैस्तुरङ्गैः[12] ॥ ११४ ॥
बलोर्मिभिस्तत्क्षणहीयमान[६]वनेषु नेषुर्भ्रमरा निवासम् ।

---

१ '–तमसीव' सीरोहीनगरस्य पर्वतवनवेष्टितत्वेन तमसः उपमा ।

२ 'वशिनामधीशैः' इति वा पाठः

३ 'तेजोऽग्रिमै–' तेजः तेजःपालनामा मन्त्री, अग्रिमः मुख्यः येषां तैः । वास्तवः तात्त्विकः भावोऽस्ति एषाम् ।

४–'जयमल्ल'–जयमल्लनामा मन्त्री तस्य राजा अथवा तस्य अधिकतेजस्त्वात् स एव राजा ।

५ 'अनो'–अनस् शकटम् ।

६–'तत्क्षणहीयमान'–तस्मिन् क्षणे उत्सवे, हीयमानेषु गम्यमानेषु ।

---

1 मा० स० तृ० श्लो० ६६ प्रथमः पादः प्रथमतया ।
2 मा० स० तृ० श्लो० ६६ द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।
3 मा० स० तृ० श्लो० ६६ तृतीयः पादः तृतीयतया ।
4 मा० स० तृ० श्लो० ६६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
5 मा० स० तृ० श्लो० ६७ प्रथमः पादः प्रथमतया ।
6 मा० स० तृ० श्लो० ६७ द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।
7 मा० स० तृ० श्लो० ६७ तृतीयः पादः तृतीयतया । माघे 'तमसेव' इति पाठः । माघटीकाकृता 'तमसि' इत्यपि पाठो निरदेशि परन्तु 'तमसा' इत्येव पाठः साधीयान् इति समर्थितम् ।
8 मा० स० तृ० श्लो० ६७ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
9 मा० स० तृ० श्लो० ६८ प्रथमः पादः प्रथमतया ।
10 मा० स० तृ० श्लो० ६८ द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।
11 मा० स० तृ० श्लो० ६८ तृतीयः पादः तृतीयतया ।
12 मा० स० तृ० श्लो० ६८ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

चलद्गजास्यस्थलदानपानगोष्ठीषु निष्ठां दधतः पटिष्ठाम्[1] ॥ ११५ ॥
मत्तद्विपेन्द्राश्वशताङ्गवृन्दै रथ्या भुजाया वलयैरिवास्याः ।
देशश्रियो वेषविशेषभूषां तदाऽभ्यपुष्यज्जयमल्लराजः[2] ॥ ११६ ॥
लताभिराकीर्णसुमानि गृह्णत्युर्वीभृतो नामयति द्विधा[३]ऽस्मिन् ।
प्रायेण निष्कामति चक्र[२]पाणौ दिक्चक्रमाक्रान्तमभूत् क्रमेण[3] ॥ ११७ ॥
जातैजनाभिस्त्रिदशाङ्गनाभिर्जगत् समादातुमिवोद्यतेऽस्मिन् ।
प्रायेण निष्क्रामति चक्रपाणौ भिया प्रियाः खे परिरेभिरे द्राक्[4] ॥ ११८ ॥
धराभिसाराय रयाद्धयानां खुरक्षतैर्दीपितमन्मथेव ।
प्रायेण निष्क्रामति चक्र[३]पाणौ रेणुच्छलाच्छादयति स्म भानुम्[5] ॥ ११९ ॥
सौभाग्यशोभां दधति क्षमायास्तस्मिन्नुदीतारुणचूर्णपुञ्जैः ।
प्रायेण निष्कामति चक्रपाणौ द्यौर्भानुचक्षुस्त्रपया न्यमीलत्[6] ॥ १२० ॥
महान् महोऽभूत् स गुरुप्रवेशे प्रत्यालयोत्तम्भितकेतुसेतुः ।
गतागतैर्यत्र जनस्य तस्यां नेष्टं पुरो द्वार[४]वतीत्वमासीत्[7] ॥ १२१ ॥
पुरः स्फुरत्स्वर्णगिरिस्तदानीं जालंधराह्वानभृतः क्षमीन्दोः ।
क्षितीन्दुतत्श्रैर्युगपत्प्रवेशे नेष्टं पुरो द्वार[५]वतीत्वमासीत्[8] ॥ १२२ ॥
पारेजलं नीरनिधेरपश्यन् दिशामधीशा जयमल्लराजः ।
सिद्धाङ्गना[६]भिर्ननु गीयमानं भृशं यशः श्रीगुरुभक्तिगौरम्[9] ॥ १२३ ॥
पारेजलं नीरनिधेरपश्यन् निजाभिषेके हरिवेश्म[७]भूषाम् ।
सस्मार देवः समयं तमेव सादृश्यमाशास्य पुरः पुरोऽस्याः[10] ॥ १२४ ॥
विभोर्निदेशान्नृपतिः स साक्षाद् मुरारिरानीलपलाशराशीन् ।
रसालजान् वन्दनकोत्सवैषी प्रसारयामास चतुष्पथेषु[11] ॥ १२५ ॥
कर्पूरपूर्णैर्मृगनाभिचूर्णैः संवास्य पत्रै रचिता अपीह ।

---

१ 'द्विधा'–राजानः पर्वताश्च ।

२ 'चक्रपाणौ' चक्रं कटकं पाणौ हस्ते यस्य मन्त्रित्वात् । चक्रपाणौ वासुदेवे लुप्तोपमा । चक्रं चक्रलक्षणं रेखारूपं पाणौ यस्य–एतेन भाग्यसूचा ।

३ 'चक्रपाणौ' चक्रपेषु चक्रवर्तिषु अणुर्लघुः ब्रह्मदत्तः तत्र–लुप्तोपमा ।

४ 'द्वारवतीत्व'–द्वारं गोपुरम्–तद्वत्त्वम्, यद्वा द्वारिकात्वं इष्टं न आसीत्, काकुः अपि तु इष्टमेव–इयं द्वारिका–एवेति भावः ।

५ 'द्वारवतीत्व–' एतन्नगरशोभया द्वारवतीत्वं दिदृक्षूणां न इष्टं प्रियम् ।

६ 'सिद्धा'–सिद्धा देवविशेषाः ।

७ 'हरिवेश्म–' "स्तम्बभूर्विष्णुगेहम्" [है० अभि० कां० ४ श्लो० ४५] इति **स्तम्भतीर्थ**–नाम ।

---

1 मा० स० तृ० श्लो० ६९ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

2 मा० स० तृ० श्लो० ६९ द्वितीयः पादः द्वितीयतया । माघे 'रथ्याभुजायाः' इति ।

3 मा० स० तृ० श्लो० ६९ तृतीयः पादः तृतीयतया ।

4 पूर्ववत् ।

5 पूर्ववत् ।

6 पूर्ववत् ।

7 मा० तृ० स० श्लो० ६९ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

8 पूर्ववत् ।

9 मा० तृ० स० श्लो० ७० प्रथमः पादः प्रथमतया ।

10 पूर्ववत् ।

11 मा० तृ० स० श्लो० ७० द्वितीयः पादः द्वितीयतया । माघे 'पलाशराशीः' इति ।

द्रुमावलीरुत्कलिकासहस्रसौरभ्यलोभान्न जहुर्द्विरेफाः[1] ॥ १२६ ॥
समुन्मिलत्सज्जनदुग्धसिन्धौ नितम्बिनीविद्रुमराजिभाजि ।
रेजुर्मरुच्चञ्चलधूपधूमाः प्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः[2] ॥ १२७ ॥
लक्ष्मीभृतोऽम्भोधितटाधिवासान् प्राच्यानुदीच्यानथ दाक्षिणात्यान् ।
स्थलाचलेभ्यो वणिजोऽभ्युपेतान् स भोजयामास नियोगिराजः[3] ॥ १२८ ॥
धनानि वर्षन् बहुधा सुधाभुग्-[१]द्रुमानसौ नीरदनीलभासः ।
मन्त्री विजिग्ये फलितांस्तदेते ह्रियेव भूमिं प्रणमन्ति सद्यः[4] ॥ १२९ ॥
निजे निवेश्यासनि सिंहसूरिं शिष्यं गुरौ वन्दनकं ददाने ।
लतावधू[२]सम्प्रयुजोऽधिवेलं तस्थुर्जनाश्चित्रितभूरुहाभाः[5] ॥ १३० ॥
अथ प्रभुः स्थापितसिंहसूरीन् कांश्चित् तदैवार्पितवाचकाङ्कान् ।
आशास्य शिष्यानधिकश्रियस्तान् बह्वङ्कृतान् स्वानिव पश्यति स्म[6] ॥ १३१ ॥
आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्मन्थाचलेनोन्मथितं पयोधिम् ।
तिरश्चकार ध्वनिधीरताभिस्तदा गुरुर्धर्मकथास्तथाख्यत्[7] ॥ १३२ ॥
सुधासरः श्रीविबुधैर्निषेव्यं लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गैः ।
गुरुस्वरूपं समवाप्य तापः प्रापद् विनाशं न जनस्य कस्य ?[8] ॥ १३३ ॥
दिदृक्षया मन्त्रिवदान्यताया धावन्तमन्तर्धनिनं सुदूरात् ।
फेनायमानं पतिमापगाना-मवारयत् किं कृपणस्वभावः ?[9] ॥ १३४ ॥
दाने ददानेऽर्थिनमर्थितार्थ-भरेण खिन्नं कै[३]रकम्पनेन ।
निषेधयन्तं पथि फेनितास्य-मसावपस्मारिणमाशशङ्के[10] ॥ १३५ ॥
पीत्वा जलानां निधिनाऽतिगाढ्याद् लस[४]द्गुणानां गुरुवाक्सुधां ताम् ।
वृष्टं सुवर्णं जयमल्लराजा पार्श्वेऽभवत् स्वर्णगिरिस्तदङ्कः[11] ॥ १३६ ॥
पूज्यक्रमाम्भोरुहभक्तिभावाद् वृद्धिं गतेऽप्यात्मनि नैव मान्तीः ।
धियां निधिः प्राप्तमुदस्तदाऽऽविश्चक्रे स्फुरद्रूप्यकभावनाभिः[12] ॥ १३७ ॥

---

१ 'द्रुमान्–' द्रुमाणां मेघतुल्यताख्यापनेन परोपकारित्वम् अतीवधन्यत्वं च ।

२ 'लतावधू–' लतया कस्तूर्या संस्कृता वधूः लतावधूः–मध्यपदलोपः । लतावत् वधूभिः संयुक्ताः अधिवेलं मुहूर्तवेलामधिकृत्य जनानां सांकर्यात् दर्शनान्तरायो मा भूत् इति दिदृक्षया स्त्रीभिः पतयः संगृहीताः ।

३ 'करकम्पनेन' पूर्वं दत्तदाना याचका गृहं प्रति चलिताः पुनर्दानाय आहूताः 'अस्माकमतः परं धनेन अलम्' इति आशयेन करचालनेन निषेधं चक्रुः न पुनर्वाचा–धनेन मुखपूरणात् ।

४ 'लसद्गुणा–' लसद्गुणानां जलानां निधिना समुद्रेण ।

---

1 मा० तृ० स० श्लो० ७० तृतीयः पादः तृतीयतया । माघे 'घनावलीरुत्कलिका'–इति । वेङ्कटेश्वरमुद्रिते माघपाठे 'वनावलीरुत्कलिका–' इति ।

2 मा० तृ० स० श्लो० ७० चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

3 मा० तृ० स० श्लो० ७१ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

4 मा० तृ० स० श्लो० ७१ द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।

5 मा० तृ० स० श्लो० ७१ तृतीयः पादः तृतीयतया ।

6 मा० तृ० स० श्लो० ७१ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

7 मा० तृ० स० श्लो० ७२ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

8 मा० तृ० स० श्लो० ७२ द्वितीयः पादः द्वितीयतया । माघे 'लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्' इति । वेङ्कटेश्वरमुद्रिते माघपाठे 'लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्' इति ।

9 मा० तृ० स० श्लो० ७२ तृतीयः पादः तृतीयतया ।

10 मा० तृ० स० श्लो० ७२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

11 मा० तृ० स० श्लो० ७३ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

12 मा० तृ० स० श्लो० ७३ द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।

एवं विभुं पुण्यविभूतिमत्रा-ऽनुभूय मध्येमरुदेशमाप्तम् ।
क्षिप्ता इवेन्दोः[१] सरुचोऽधितीरं शिष्या गुणौघैरभिजग्मुरीशम्[1] ॥ १३८ ॥
तदेव दैवाज्जलदातिवृष्ट्या मरुर्नदीमातृकतां जगाहे ।
क्षिप्ता इवेन्दोः सरुचोऽधितीरं हंसाव[२]लीराकलयन्नतोऽगात्[2] ॥ १३९ ॥
प्रतिस्थलं धन्वनि धन्वभृद्भिर्भूपैः स सम्मान्य कृतप्रवेशः ।
संवर्द्धितः पौरकनीविमुक्ता मुक्तावलीराकलयाञ्चकार[3] ॥ १४० ॥
[३]साटोपमूर्वीमनिशं नदन्तो धर्मोपदेशेषु मरौ विहृत्य ।
पवित्रयन्तः कतिचित् समान्ते जग्मुर्गणीन्द्रा गिरिमेद[४]पाटम्[4] ॥ १४१ ॥
आदाय सिन्धोर्जलदा धरित्रीं यैः प्लावयिष्यन्ति समन्ततोऽमी ।
तदम्भसां सञ्चयपात्रभूते व्यालोकयत् ते सरसी वशी सः[5] ॥ १४२ ॥
समीयुषः सङ्घजनस्य यानि रत्नैर्मिथः सङ्घटनाच्च्युतानि ।
तान्येकदेशान्निभृतं पयोधेर्भ्रान्त्येव रत्नानि समाश्रयंस्ते[6] ॥ १४३ ॥
तटेष्वटद्वारणवाजिराजि-श्रीसौरभेयीजलबिम्बितानि ।
तान्येकदेशान्निभृतं पयोधेः साम्यं सरस्योः प्रकटं विचक्रुः[7] ॥ १४४ ॥
श्रीमज्जगत्सिंहमहीमहेन्द्र-विवन्दिषाभ्यागमने गजेन्द्रान् ।
सूरिर्मदैः सिक्तभुवोऽङ्गभाजः सोऽम्भांसि मेघान् पिबतो ददर्श[8] ॥ १४५ ॥
उद्धृत्य मेघैस्तत एव तोयमह्नाय भूमिः परिपूर्यते स्म ।
सुस्वादुता स्यात् कथमन्यथाऽस्मिन्-अम्भोधराम्भोनिवहे विहेतुः[9] ॥ १४६ ॥
शास्त्रैर्दृढीकृत्य दयासमर्थ-मर्थं मुनीन्द्रैरिव सम्प्रणीताः ।
तथा कथास्तस्य नृपस्य वश्यक्रियासु निष्ठाः सहसोपदिष्टाः[10] ॥ १४७ ॥
आनाय[१०]निक्षेपनिषेधमत्र सन्धाय सूरेरुपदेश[११]रूपात् ।

---

१ 'क्षिप्ता इवेन्दोः' गुणौघैः क्षिप्ताः प्रेरिता इव इन्दोः **चन्द्रशाखीयो**पाध्यायादेः शिष्याः

'सरुचः' **रुचिशाखीय**मुनियुक्ताः

'अधितीरम्' समीपम् । अधिकं तीर्यते अनेन अधितीरो गुरुस्तं वा ।

२ 'हंसाव-' द्वितीयकाव्येऽपि हंसावलीः **हंसशाखीय**मुनीनां श्रेणीः पश्यन् । 'क्षिप्ताः' इत्यादि प्राग्वत् ।

३ 'साटोपमू-' साडम्बरं भुवम् ।

४ 'गिरिमेद-' गिरिभिः उपलक्षितः **मेदपाट**देशः-मध्यपदलोपसमासः ।

५ 'कदेशान्' एकदा समकालम्, ईशान् गुरून् सम्मुखागतस्य संघस्य । 'ईशान्' इति [समीयुषः] इत्यस्य क्वसुप्रत्ययस्य कर्म ।

६ 'निभृतम्' निभृतं निश्चितं यथा स्यात् तथा । निभृतं राशीभवनं वा ।

७ '-ते' ते द्वे सरसी कर्मभूते रत्नानि समाश्रयन्

८ 'सरस्योः' **पींछोला-उदयसागरयोः** तडागयोः ।

९ 'इव संप्र-' इवशब्दोऽत्र भिन्नक्रमः-संप्रणीता इव नवाः कृता इव ।

१० 'आनाय-' "आनायो मत्स्यबन्धनम्" ।

११ '-उपदेश-' प्रशस्तोपदेशात् ।

---

1 मा० तृ० स० श्लो० ७३ तृतीयः पादः तृतीयतया । माघे 'स रुचोऽधिवेलम्' इति पृथक् पृथक् ।

2 पूर्ववत् ।

3 मा० तृ० स० श्लो० ७३ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

4 मा० तृ० स० श्लो० ७४ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

5 मा० तृ० स० श्लो० ७४ द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।

6 मा० तृ० स० श्लो० ७४ तृतीयः पादः तृतीयतया ।

7 पूर्ववत् ।

8 मा० तृ० स० श्लो० ७४ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

9 मा० तृ० स० श्लोक ७५ प्रथमः पादः प्रथमतया । माघे 'उद्धृत्य' इति ।

10 मा० तृ० स० श्लो० ७५ द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।

आलोकयामास हरिः[१] पतन्तीर्भक्त्या तदंह्र्योर्जनता जगत्याः[1] ॥ १४८ ॥
व्युत्क्रम्य मासांश्चतुरः पुरेऽस्य गच्छन्तमार्यं तमनुव्रजन्तीः ।
न रक्षितुं ताः[२] क्षितिपः शशाक नदीः स्मृतीर्वेदमिवाम्बुराशिम्[2] ॥ १४९ ॥
विक्रीय दिश्यानि धनान्युरूणि संलब्धलाभा वणिजो द्विधाऽपि ।
पुरीव चक्रुर्विपिनेऽस्य सेवां क्व भोगलाभो न हि भाग्यभाजः[3] ॥ १५० ॥
स्थित्वा स्वदेशे[३]ऽब्दयुगं शमीन्दुर्ध्यानसावुत्तमलाभभाजः ।
चिकीर्षुराह्वातुमितान् सुराष्ट्रां चचाल नन्तुं विमलाचलेन्द्रम्[4] ॥ १५१ ॥
शत्रुञ्जये श्रीपरमादिदेवं नत्वाऽब्धितीरं प्रभुराप्तवांश्च ।
तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं निक्षिप्य सङ्घोऽप्यभिजग्मिवांश्च[5] ॥ १५२ ॥
अज्झाहरे श्रीजिनमाश्वसेनिं तथोन्नते द्दीरगुरोः क्रमाब्जे ।
प्रणम्य तत्रैत्य स बोधिबीजं सांयात्रिकानावपतो[४] ददर्श[6] ॥ १५३ ॥
उत्पित्सवोऽन्तर्नदभर्तुरुच्चैर्द्वीपाख्यपुर्याः प्रमदान्निवासाः ।
गुरोः प्रणामाय सनागरीका रेजुर्विमाना इव केतुपक्षैः[7] ॥ १५४ ॥
लङ्कापुरी किं विजिताऽनयैव गरीयसा निःश्वसितानिलेन ।
चलोर्मिमालाप्रतिबिम्बदम्भात् सवेपथुर्नीरधिमध्युवास[8] ॥ १५५ ॥
मुक्ताफलैर्वीचिकरान्[५] वितत्य तत्रेश्वरं वर्धयतः पयोधेः ।
पयांसि भक्त्या गरुडध्वजस्य तदुत्सवङ्गीप्सुतयोद्विचेलुः[9] ॥ १५६ ॥
पुरः प्रवेशे शमिनामिनस्य प्रसूनवृष्ट्यादिमहं नृदेवाः ।
चक्रुस्तदीक्ष्योच्छलदूर्मिदम्भाद् ध्वजानिवोचिक्षिपिरे फणीन्द्राः[10] ॥ १५७ ॥
तमागतं वीक्ष्य युगान्त[६]बन्धु-भुजं भुजङ्गप्रभुपूजनीयम् ।
संस्थाप्य मासांश्चतुरः क्षमीशं ननन्द सङ्घोऽनघभक्तिकृत्यैः[11] ॥ १५८ ॥
ततः क्रमात् सञ्चलितं यतीन्द्रमुत्सङ्ग[७]शय्याशयमम्बुराशिः ।
उर्मीकरैर्देवकपत्तनस्थं भुजिष्यवद् वीजयति स्म वातैः[12] ॥ १५९ ॥

---

१ 'हरिः' जगत्या भुवः हरिः इन्द्रः–**जगत्सिंहनामा** ।
२ 'ताः' जनताः ।
३ 'स्वदेशे–' स्वेषाम् आत्मीयानां, स्वानां ज्ञातीनां वा देशो **गूर्जरत्रा** तत्र वर्षद्वयम् ।
४ '–आवपतो–' सम्यक्त्वबीजम् आवपतः प्ररोहयतः ।
५ '–वीचिकरान्' वीचय एव कराः पाणयः तान् ।
६ 'युगान्त–' युगस्य शकटाग्रभागस्य अन्तैर्धर्मैर्दीर्घतादिगुणैर्बन्धुभूतौ भुजौ यस्य सः–तम् ।
७ 'मुत्सङ्ग–' मुदां हर्षाणां संगो यत्र तादृक् शय्या–उपाश्रयः तत्र स्थितम् ।

---

1 मा० तृ० स० श्लो० ७५ तृतीयः पादः तृतीयतया ।
2 मा० तृ० स० श्लो० ७५ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
3 मा० तृ० स० श्लो० ७६ प्रथमः पादः प्रथमतया ।
4 मा० तृ० स० श्लो० ७६ द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।
5 मा० तृ० स० श्लो० ७६ तृतीयः पादः तृतीयतया ।
6 मा० तृ० स० श्लो० ७६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे '–नावपतोऽभ्यनन्दत्' इति ।
7 मा० तृ० स० श्लो० ७७ प्रथमः पादः प्रथमतया ।
8 मा० तृ० स० श्लो० ७७ द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।
9 मा० तृ० स० श्लो० ७७ तृतीयः पादः तृतीयतया ।
10 मा० तृ० स० श्लो० ७७ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
11 मा० तृ० स० श्लो० ७८ प्रथमः पादः प्रथमतया ।
12 मा० तृ० स० श्लो० ७८ द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।

देवागमे देवकपत्तनाख्यमुत्सङ्गशय्याशयमम्बुराशिः ।
गर्जन्मृदङ्गध्वनिसन्निधानैरनर्तयच्चञ्चलकेतुहस्तम्[1] ॥ १६० ॥
अथाभ्युपेतं बहुबुद्धिधाम्नामुत्[२]सङ्गशय्याशयमम्बुराशिम् ।
श्रीवीरशब्दाद्विजयं स्वशिष्यं पस्पर्श हस्ताम्बुरुहा शमीशः[2] ॥ १६१ ॥
अदूष्यवैदुष्यधरं तमैक्ष्य स्तुवन् कलाभ्यासगुरुं तदीयम् ।
प्रत्युज्जगामेव गुरुप्रमोद-मेदस्वलैस्तुष्टमनास्तदङ्गैः[3] ॥ १६२ ॥
सूरिः सरस्वानिव तं कलाभिस्तूर्णं प्रपूर्णं समवेक्षमाणः ।
सोमं प्रकृत्येव समुल्ललास प्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः[4] ॥ १६३ ॥
उत्सङ्गिताम्भःकणिको नभस्वान् इवार्षिराजोऽप्रतिबन्धचारी ।
वीरेण तेनान्तिषदाऽनुगम्यः सन्तापमुर्व्या द्विविधं जहार[5] ॥ १६४ ॥
प्रभोः स गाम्भीर्यगुणैर्यशस्वानुदन्वतः खे[३] दलवान् ममार्ज ।
अहर्निशं सेवनया रजांसि नूनं विनेयो विनयैरनूनः[6] ॥ १६५ ॥
शिष्यः प्रतीरे चरतः स विद्वानुदन्वतः खेदलवान् ममार्ज ।
सूरेर्विहारे तपतस्तपांसि बाह्यांस्तथाऽभ्यन्तरगान् विधेयैः[7] ॥ १६६ ॥
स्थिते गुरौ स्थानवतः प्रसुप्ते सुप्तस्य निर्देशदिशैव मार्गम् ।
तस्यानुवेलं व्रजतोऽतिवेलं तपस्यतः श्रीर्ववृधे मुमुक्षोः[8] ॥ १६७ ॥
अहर्निशं बोधधरस्य वैया-वृत्त्यादिकृत्येषु निदेशवृत्तेः ।
तस्यानु[६]वेलं व्रजतोऽतिवेलँ-मीर्यासमित्यास यशःप्रकाशः[9] ॥ १६८ ॥
प्रतिस्थलं मण्डलतीर्थभावं समर्थयन्तं जलधेः समीरः ।
[९]सुखः सिषेवे श्रमणाधिपं तम्-एलावनास्फालनलब्धगन्धः[10] ॥ १६९ ॥

---

१ '–मुत्सङ्ग–' उत्सङ्गः क्रोडः स एव शय्या तत्र स्थितम् ।

२ '–धाम्नामुत्सङ्ग'–बुद्धिधाम्नां समुद्रम् । उत्सङ्गे शयौ करौ उत्सङ्गशयौ, तौ यस्य स्तः तद् उत्सङ्गशयि जिनबिम्बम्–तत्र आशयो यस्य सः तम्–जिनबिम्बध्यायिनम् ।

३ 'खे दल–' खे धने दरवान् सभयः–गतधनस्पृहः । यद्वा खे ज्ञातौ दलवान् बहुज्ञातिः इत्यर्थः ।

४ 'रजांसि' पापलक्षणानि ।

५ 'विधेयः' "विधेयो विनयस्थः स्यात्" इति हैमः [है० अभि० कां० ३ श्लो० ९६]

६ '–अनुवेलम्' ईर्यासमित्या व्रजतः ।

७ –'अतिवेल'–अतिबेरं शरीरातिक्रमेण तपस्यन्तम् । "बेरं शरीरम्" कोषे । [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ४४८]

८ व्रजतः तस्य अतिवेलं समुद्रवेलातिक्रमेण तथा यशः–प्रकाशः आस दिदीपे "अस गति–दीप्ति–आदानेषु" धातुः ।

९ 'सुखः' सुखयति इति सुखः । "पचाद्यच्" ।

---

1 पूर्ववत् ।

2 पूर्ववत् । केवलम्–माघे '–राशिः' इति ।

3 मा० तृ० स० श्लो० ७८ तृतीयः पादः तृतीयतया ।

4 मा० तृ० स० श्लो० ७८ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

5 मा० तृ० स० श्लो० ७९ प्रथमः पादः प्रथमतया । माघे '–कणको' इति ।

6 मा० तृ० स० श्लो० ७९ द्वितीयः पादः द्वितीयतया । माघे 'खेदलवान्' इति समस्तम् ।

7 पूर्ववत् । 'खेदलवान्' इति माघवत् ।

8 मा० तृ० स० श्लो० ७९ तृतीयः पादः तृतीयतया । माघे 'व्रजतोऽधिवेलम्' इति ।

9 पूर्ववत् ।

10 मा० तृ० स० श्लो० ७९ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'एलालतास्फा–' इति ।

उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्त-निर्यास[१]पानान्नृपतीन्निषिध्य ।
अन्वीयमानः सबलं गुरुस्तैर्-जनप्रबोधाय भुवि व्यहार्षीत्[1] ॥ १७० ॥
अब्धेरहम्पूर्विकया तरङ्गाः समीरसीमन्तितकेतकीकाः ।
नन्तुं प्रवृत्ता इव तीरदेशे प्रेम्णा व्यलोकयन्त यतिक्षितीशैः[2] ॥ १७१ ॥
उत्सारितैरुच्चतरैस्तरङ्गैर्मुक्तामणीदेवमणीचयौघैः ।
आसेदिरे लावणसैन्धवीनां प्रसादनानां विधयस्तदेभिः[२][3] ॥ १७२ ॥
वीरस्य[३] तस्य प्रशमानुकम्पा-ववोधभक्त्यादिगुणान् निशम्य ।
स्वर्[४]जन्मतोऽस्योज्जगिरे बिडौजश्-चमूचरैः कच्छभुवां प्रदेशाः[4] ॥ १७३ ॥
सङ्घानुगच्छद्घनतूर्यनाद-स्पर्द्धोद्धतध्वानवतः पयोधेः ।
सरित्प्रसङ्गैः सुभगा निगूढाश्-चमूचरैः कच्छभुवां प्रदेशाः[5] ॥ १७४ ॥
लवङ्गमालाकलितावतंसाः श्रीसूरिराजानुगसङ्घलोकाः ।
तीर्थेषु यात्रार्चनदानकृत्यैर्-बभुर्घनस्य प्रतिमल्लरूपाः[6] ॥ १७५ ॥
सुधा इवाब्धेर्वसुधावतीर्णास्ते नालिकेरान्तरपः पिबन्तः ।
श्रीदेवसूरेरनुयायिभावाद् नरा द्युसद्मान इव व्यराजन्[7] ॥ १७६ ॥
मुक्तावलीभूषितकण्ठदेशा लज्जाप्रसूनैर्धृतकर्णपूराः ।
आस्वादिताऽऽर्द्रक्रमुकाः समुद्रात् प्रियौचितीः प्रापुरनङ्गवल्यः[8] ॥ १७७ ॥
विहृत्य सिन्धोः सविधे तदेवं गन्तुं प्रवृत्ता गिरिदुर्गमीशाः ।
श्रुत्वान्तरे सङ्घजनस्य तस्मादभ्यागतस्य प्रतिपत्तिमापुः[9] ॥ १७८ ॥
तुरगशताकुलस्य परितः परमेकतुरङ्गजन्मनः
परिविदितागमस्य सततं रहितस्य सदा शुभागमैः[११] ।

---

१ –'निर्यास–' –रस–

२ '–एभिः' गुरुभिः सेवाप्रकारा आसेदिरे प्राप्ताः ।

३ 'वीरस्य' तस्य जन्मतः ।

४ 'स्वर्' स्वर्गे ।

५ '–उज्जगिरे' गीताः बिडौजश्चमूचरैः देवैः ।

६ 'कच्छभुवाम्' कच्छनाम्नो देशस्य भूमीनां प्रदेशाः ।

७ 'कच्छभुवां' वनभूमीनाम् ।

८ '–घनस्य प्रति–' घनाघनः श्यामः तद्वत् लवङ्गावतंसैः तेऽपि लोकाः श्यामतया प्रतिमल्लाः ।

९ 'लज्जा–' **लाजमर्यादा** नाम वनस्पतिविशेषः समुद्रतीरे एव भवति ।

१० 'गिरिदुर्ग–' गिरिदुर्गं गिरिनारायणनामतीर्थम् **गिरिनार** इति भाषा ।

११ 'शुभागमैः' शुभाः प्रशस्ताः अगमा वृक्षाः तैः ।

---

1 मा० तृ० स० श्लो० ८० प्रथमः पादः प्रथमतया ।

2 मा० तृ० स० श्लो० ८० द्वितीयः पादः द्वितीयतया ।

3 मा० तृ० स० श्लो० ८० तृतीयः पादः तृतीयतया ।

4 मा० तृ० स० श्लो० ८० चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

5 पूर्ववत् ।

6 मा० तृ० स० श्लो० ८१ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

7 मा० तृ० स० श्लो० ८१ द्वितीयः पादः द्वितीयतया । माघे 'नारिकेला–' इति ।

8 मा० तृ० स० श्लो० ८१ तृतीयः पादः तृतीयतया ।

9 मा० तृ० स० श्लो० ८१ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'प्रतिपत्तिमीयुः' इति भेदः ।

बहुकमलाकरैन्द्रकलितस्य जनस्य गुरुप्रभावतश्-
चिरविगतश्रियो जलनिधेश्च तदाऽभवदन्तरं महत्[1] ॥ १७९ ॥

॥ इति श्रीदेवानन्दमहाकाव्ये दिव्यप्रभापरनाम्नि ऐङ्काराङ्के माघसमस्यार्थे श्रीतपागच्छीयमहोपाध्यायश्रीमेघविजयगणिविरचिते युवराजस्थापन-मरुधर-मेदपाट-सुराष्ट्राविहारवर्णनानानापाद-समस्याङ्कितस्तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः ।

॥ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय ऐँ नमः ॥

अथ प्रभातप्रभया विभिन्नं निशास्तमिस्रं ग्रहकान्तिमिश्रम् ।
प्राप्याश्रितं दुर्गमिवोग्ररत्नम् असौ गिरिं रेवतकं ददर्श[2] ॥ १ ॥
शृङ्गैरभङ्गैः सुभगं निजाङ्क-व्यालीनपीनद्रुलतावलीनाम् ।
मा घर्मबाधास्त्विति सूर्यरश्मीन् पुनः पुना रोद्धुमिवोन्नमद्भिः[3] ॥ २ ॥
सेवे शिवाभूर्भुवि तीर्णकामो[3] वितीर्णकामो भगवान् सदा यम् ।
कृतालये कोमलताभिरामं लताभिरामन्त्रितषट्पदाभिः[4] ॥ ३ ॥
श्रीनेमिनाथं जिनमानिनंसुर् न मानिनं सुस्थरुचिः स शैलम् ।
तमुच्चयौ सङ्कुलताभिरामं लताभिरामन्त्रितषट्पदाभिः[5] ॥ ४ ॥

[पाठान्तरम्]

सहस्रसङ्ख्यैर्मनुजैः स सत्रा-ऽधिरुह्य नेमीश्वरमस्य शृङ्गे ।
ननाम वक्त्रांशुजितेषराका-निशाकरं साधुहिरण्यगर्भम्[6] ॥ ५ ॥
स्पृष्टस्फुटस्फाटिकचैत्यमेष तुष्टाव तं नेमिनमञ्जनाभम् ।
कैलासवेश्मानमिभाजिनेन विभक्तभस्मानमिव स्मरारिम्[7] ॥ ६ ॥
ददर्श देवं महितुं गतानां विद्याधराणां महितुङ्गतानाम् ।

---

१ –'कमलाकरै–' कमलाकरा वणिजः ।
–'ऐन्द्र–' ऐन्द्रम् इन्द्रसमूहः, यद्वा इन्द्रः स्वामी भगवान् स एव इति स्वार्थे अणि ऐन्द्रः तेन सहितस्य ।
२ '–प्रभावत–' गुरुणा प्रभावान् गुरुप्रभावान् तस्य ।
३ 'तीर्णकामो' तीर्णः मुक्तः कामः स्मरः येन । पक्षे दत्ताभिलाषः ।
४ 'कृतालये' लताभिः कृताश्रये ।
५ '–आमन्त्रितषट्पदाभिः' आमन्त्रितम् अभ्यस्तम्, षट्पदं नाम भ्रमरविलसितं रतं यासु ताः–ताभिः । यद्वा षट्पदे छन्दोविशेषे आमन्त्रिताः स्तुताः ताभिः । आहिताग्न्यादिवत् परनिपातः ।
६ 'साधुहिरण्य–' साधूनां धातारम् शिवमार्गविधेर्विधानात् ।
७ 'महितुङ्गतानाम्' स गुरुः, विद्याधराणां राजिं ददर्श ।

---

1 मा० तृ० स० श्लो० ८२ प्रथमः पादः प्रथमतया, चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
2 मा० च० स० श्लो० १ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'रैवतकम्' इति ।
3 मा० च० स० श्लो० २ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'पुनः पुना' इति ।
4 मा० च० स० श्लो० ३ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
5 मा० च० स० श्लो० ३ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
6 मा० च० स० श्लो० ४ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'साधु' इति पृथक् पदम् । इषराका–आश्विनपूर्णिमा शारदी पूर्णिमा ।
7 मा० च० स० श्लो० ५ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

स राजिमुत्पिञ्जलजातपत्रैर्विहङ्गमानां [१]जलजातपत्रैः[1] ॥ ७ ॥
सरोजिनीपत्रलवाऽऽदरेण दृष्टोज्झिता चित्रलवा दरेण ।
राजी सशोभाऽजलजा-ऽऽतपत्रैर्विहङ्गमानां जलजा-तपत्रैः[२][2] ॥ ८ ॥
शिरःस्फुरत्केतुसुधाशिसिन्धून् कपोतपोतस्थितिनीलकण्ठान् ।
गिरिं जगाहे स गुरुर्विहारान् रुद्राननन्तानिव धारयन्तम्[3] ॥ ९ ॥
तद्यात्रयाऽऽत्मानमसौ पवित्रम् आधाय तस्माद् विजहार सूरिः ।
यामस्य[३] पश्यन् विषयप्रधानं शुचीरपः[४] शैवलिनीर्दधानम्[4] ॥ १० ॥
रामा[५]भिरामाभिकदर्शनीयं वत्सादिवत्[६] सादिजनैरनूनम् ।
शस्याँ[७]नि शस्यानि च दुष्किरात[८]-रक्षोभिरक्षोभितमुद्वहन्तम्[5] ॥ ११ ॥
लाभादिलाऽभादिह रत्नमुक्ता-राज्या सुराज्याऽऽशु तमाप येन ।
देवो नृदेवो[९]ऽनृतनुद् विनोदं रक्षोभि[१०]रक्षोभितमुद्वहन्तम्[6] ॥ १२ ॥
तद्राजधान्यां नगरे नवीने तस्थौ गुरुर्यत्र विहारपङ्क्तेः ।
भवन्ति नैव स्तुवतां जनानाम्-उच्छ्रायसौंदर्यगुणा मृषोद्याः[7] ॥ १३ ॥
क्रमाद् गणिर्वीर इह प्रभूणां दृष्ट्या गुणोघैर्ववृधे तथालम् ।
यथा स्युरस्याग्रभुवां मुनीनाम्-उच्छायसौन्दर्यगुणा मृषोद्याः[११][8] ॥ १४ ॥
तस्याः पुरश्चारुपयोधिवेला-दुकूलभाजस्तुलना कथं स्यात् ।
एकापणादेव समेत्य यस्यां जग्राह रत्नान्यमितानि लोकः[9] ॥ १५ ॥
कान्ताननेभ्योऽन्यपदे सरस्यां[१२]-ऽऽरमज्जनानां चिरमज्जनानाम् ।

---

१ महि उत्सववत् तुङ्गं तानं गीतलयो यस्याः ताम् । किम्भूतानाम् ? विहंगैः पक्षिभिः मा उपमानं येषां ते–तेषाम् । महितुं पूजितुम्, जलजातानि कमलानि तेषां पत्रैः । किम्भूतैः पद्मपत्रैः ? उत्–अतिशयेन पिञ्जराणि पिङ्गानि नवानि पत्राणि येषु तैः पत्रैः ।

२ 'तपत्रैः' तपं तपगणं त्रायन्ते तपत्रा गुरवः तैः पक्षिणां श्रेणी दृष्टा । किंभूता ? पद्मिनीपत्रखण्डस्य आदरेण चित्ररवा नानारुता, दरेण भयेन उज्झिता । किंभूता ? आतपत्रैः छत्ररूपैः पद्मपत्रैः सशोभा सश्रीका । किंभूता ? जलजा अजलजा स्थलजा राजी ।

३ 'यामस्य' यामनाम्ना राजा तस्य ।

४ 'शुचीरपः' शुचीः अपः पवित्राणि जलानि तद्रूपाः शैवलिनीः नदीः–शेवालवतीर्वा । यद्वा 'सुचीरपः' सुष्ठु चीरं श्वेतं पाति यः सुचीरपः ।

५ 'रामा–' नार्यः । अभिरामा अभिकाः कामुकाः तैर्दर्शनीयम् ।

६ 'वत्सादिवत्' वत्सादिदेशवत् अश्वारोहैः पूर्णम् ।

७ 'शस्यानि' धान्यानि फलानि वा–उद्वहन्तम्–वर्ष्याणि ।

८ 'दुष्किरात–' भिल्लरूपराक्षसै अक्षोभितम् ।

९ 'देवो नृदे–' देवः नाम्ना नृरूपेण देवः आशु तं देशम्, येन कारणेन तं देशम् आप तेन रत्नमुक्ताराज्या लाभात् इला भूः अभात् । किंभूता ? सुराज्या । किंभूतो देवः ? अनृतनुत् असत्यवारकः ।

१० 'रक्षोभि–' रक्षोभिः पिशाचदेवैः छलग्रहादिना अक्षोभितम्–अनुपद्रुतम् ।

११ 'मृषो–' असत्याः ।

१२ 'आरमज्ज–' आ समन्तात् रमज्जनानाम्, चिरमज्जनानि स्नानानि तेषां योग्ये सरसि ।

---

1 मा० च० स० श्लो० ६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

2 मा० च० स० श्लो० ६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

3 मा० च० स० श्लो० ७ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'रुद्राननेकानिव' इति भेदः ।

4 मा० च० स० श्लो० ८ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

5 मा० च० स० श्लो० ९ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

6 मा० च० स० श्लो० ९ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

7 मा० च० स० श्लो० १० चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'उच्छ्रायसौन्दर्य–' इति पाठः ।

8 मा० च० स० श्लो० १० चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'उच्छ्राय' इति ।

9 मा० च० स० श्लो० ११ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

योग्येऽत्र भृङ्गी[१] रमते विमुक्त-रसाऽऽनमत्तामरसा न मत्ता[1] ॥ १६ ॥
मुक्ताशया प्रावृषि कश्मलेऽपि नदीप्रवाहे[२] घनदीप्रवाहे ।
हंसा जहत्यत्र जलाश्रयाणां रसा[३] नमत्तामरसा न मत्ताः[2] ॥ १७ ॥
यस्यां जगत्प्राणकनाणकार्थम्[४]-उट्टङ्कशालासु जलाध्वनाऽऽप्तः ।
भूभर्तुरुद्भासितमूर्तकीर्तेर्-लीलां दधौ राजतगण्डशैलः[3] ॥ १८ ॥
ततश्चतुर्मासकपारणायां श्रीसिद्धशैलं शमिनामथेशाः ।
श्राद्धैः समृद्धैः सह सङ्घ[५]सार्थम्-आनिन्यिरे वंश[६]करीरनीलैः[4] ॥ १९ ॥
निषेवते यत्र जिनेषु मुख्यं सभा सुराणां रसभासुराणाम् ।
नादृष्टं[७]-दृष्टादिरिहाप्यते तत् विपन्न[८]गानामविपन्नगानाम्[5] ॥ २० ॥
छायां ध्रुवां यत्र करोति सान्द्रा रसाल[९]राजिः सुरसाल[१०]राजि ।
क्लिश्नाति नारीं[११] न तदातपस्य विपन्नगानामविपन्न[१२]गानाम्[6] ॥ २१ ॥ [पाठान्तरम्]
अथाद्रिसन्धेः स्फुटिकानुबन्धे रेजेऽधिकं सङ्घनिवेशबिम्बम् ।
पात्रे गुणाढ्ये प्रकृतेर्यदाहुः सङ्क्रान्तिमाक्रान्तिगुणातिरेकाम्[7] ॥ २२ ॥
दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुनीन्दोरपूर्ववद् विस्मयमाततान ।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः[8] ॥ २३ ॥
अत्यायतं[१३] तं सहसाधिरोढुं मत्वा यतं[१४] दुश्चरितान्नितान्तम् ।
उत्कं धरं कश्चिदुपेत्य सूरिम्-उत्कन्धरं दारुक[१५] इत्युवाच[9] ॥ २४ ॥

---

१ 'भृङ्गी' नारीमुखेभ्यः अन्यत्र भृङ्गी न रमते । किंभूता भृङ्गी ? विमुक्तानि रसेन आनमन्ति तामरसानि यया सा । मत्ता पुष्टा ।

२ 'नदीप्रवाहे' मौक्तिकलोभेन हंसा जलाश्रयाणां भूमीर्न जहति । नदीश्रोतसि, घनेन मेघेन दीप्तो वाहो वहनं यत्र तस्मिन् । किंभूता हंसाः ? मत्ताः पुष्टाः ।

३ 'रसा–' भूमीः । नमन्ति तामरसानि यासु ताः ।

४ –'नाणकार्थं–' अर्थेन नित्यसमासः ।

५ 'संघ–' संघोऽत्र चतुर्वर्णः तीर्थरूपः साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविका–समुदायस्सार्थः तत्प्रसङ्गी अन्यलोकवर्गः ।

६ 'वंशकरीर–' वंशः अन्वयः स एव करीरः कुम्भः तत्र नीलैः नीलरत्नतुल्यैः ।

७ 'नादृष्ट–' अदृष्टं वह्न्यादि । दृष्टं स्व-परचक्रजं भयं न आप्यते ।

८ किंभूतं भयम् ? नगानां विपत्–तरूणां पर्वतानाम् आपत् । अविपदः अदोषाः ससंपदो वा नगा द्रुमा येषु तेषाम् ।

९ 'रसाल–' आम्रपङ्क्तिः ।

१० 'सुरसाल–' सुरसालेन देवतरुणा राजते यः स सुरसालराट् तत्र पर्वते ।

११ 'नारीम्' नगानां शैलानाम् आतपस्य विपत् नारीं न क्लिश्नाति ।

१२ '–अविपन्नगानाम्' अविपन्नं पूर्णं गानं यस्यास्ताम् ।

१३ 'अत्यायतम्' अतिदीर्घं धिया मत्वा ।

१४ 'यतम्' यतं दुश्चरिताद् उपरतम् ।

१५ 'दारुक–' दारूणि के मस्तके यस्य स भारवाही संघसारथिर्वा ।

---

1 मा० च० स० श्लो० १२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

2 मा० च० स० श्लो० १२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'मत्ता' ।

3 मा० च० स० श्लो० १३ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

4 मा० च० स० श्लो० १४ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

5 मा० च० स० श्लो० १५ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

6 पूर्ववत् ।

7 मा० च० स० श्लो० १६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'संक्रान्तिमाक्रान्त–' इति ।

8 मा० च० स० श्लो० १७ संपूर्णोऽयं श्लोकोऽत्र । केवलम्–'मुनीन्दोः' स्थाने माघे 'मुरारेः' इति पाठः ।

9 मा० च० स० श्लो० १८ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । अन्यदपि साम्यं वर्तते ।

रत्नांशुभिर्गगनरत्न[१]रुचां सपत्नैर्यां चित्रयन्तमवनीं च जलैः पवित्रैः ।
चूडामणीयितजिनप्रथमांह्रिमेनम्-उद्वीक्ष्य को न भुवि विस्मयते नगेशम्[1] ॥२५॥

सुरधनुषि तते तपात्ययर्ताबुभयतटस्फुटकाञ्चनोपलोऽसौ ।
कलयति शिखरी विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्[2] ॥ २६ ॥ [पुष्पिताग्रा]

गिरिरयं वियताऽधित सङ्गतिं सह[२]रितालसमाननवांशुकः ।
वसुतटीः श्रयतेऽत्र सुरो नटन् [३]सहरिता लसमाननवांशुकः[3] ॥ २७ ॥
निजगिराशिषमाह तवान[४]मत्-सहरितार ! समान ! नवां शुकः ।
तदनु राजगणः कुरुते नतिं सह[५]रितारसमाननवांशुकः[4] ॥ २८ ॥ [द्रुतविलम्बितम्]

एवं गिरौ निवसतः स गिरोऽस्य शृण्वन्-आरुह्य शैलमभिनम्य युगादिदेवम् ।
दध्रे पुरोनिहितवीरमुनिः समत्वम्-उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य मृगाङ्कमूर्तेः[5] ॥ २९ ॥
सङ्घस्य तेन चरता धुरि दारुकेण स्वाम्यादिदेश पथि दर्शितभूरिचैत्यः ।
उद्धारलाभमिह तीर्थकृतो गृहस्य [६]मुत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य मृगाङ्कमूर्तेः[6] ॥ ३० ॥

देवादेशाल्ल[७]क्ष्मणैस्तैः सरा[८]मैर्जीर्णोद्धारा निर्मितास्तद्विहाराः ।
चक्रुश्चञ्चत्केतुभिः प्रान्त[९]रार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणमत्र[7] ॥ ३१ ॥

प्रथमेशितुर्विहितपूजना दीपनै[१०]स्तदयुः पदं गृहमणेर्जना दीपनैः ।
दृषदोऽपि यत्र घनगूढ[११]चामीकराः सवितुः क्वचित् कपिशय[१२]न्ति चामी कराः[8] ॥ ३२ ॥

---

१ '–गगनरत्न–' –सूर्य– ।

२ 'सहरिताल–' सहरिता दिक्सहितेन । 'अल-समान–' अल-अलम्-हरितालम् तेन तुल्यनवकिरणः ।

३ 'वसुतटीः सहरिताः' स्वर्णतटीः सहरिताः सनीलतृणाः । किम्भूतः सुरः ? लसमाननवांशुकः-दीप्रनव्यवसनः ।

४ 'तवानमत्–' हे आनमत्सचन्द्रनक्षत्र ! । समान !–ज्ञानसहित ! । शुकः निजगिरा नवां तव आह वक्ति ।

५ 'सहरितार–' ससुवर्ण-रूप्यतुल्यनववसनः ।

६ 'मुत्सङ्ग–' मुदां संगा यस्माद् यस्य वा ईदृक् संगी सेवकः । मृगः अङ्कश्चिह्नं यस्याम्– ईदृशी मूर्तिर्यस्य–शान्तितीर्थकृतः ।

७ '–लक्ष्मणैः–' इभ्यैः ।

८ 'सरामै–' सस्त्रीकैः ।

९ 'प्रान्त–' "प्रान्तरम्–दूरशून्योऽध्वा" [है० अभि० कां० ४ श्लो० ५१]

१० 'दीपनै–' कश्मीरजद्रव्यैः ।

११ '–चामीकराः' यत्र पदे स्थाने दृषदोऽपि घनं बहु, गूढं स्वर्णं यासु ताः–तादृशः–सन्ति ।

१२ 'कपिशयन्ति' तथा यत्र सूर्यस्य अमी कराः कपिशयन्ति वानरहस्तवद् भान्ति–मन्दप्रकाशा भवन्ति–इत्यर्थः ।

---

1 मा० च० स० श्लो० १९ चतुर्थं पादः चतुर्थतया । माघे 'को भुवि न' इति ।

2 मा० च० स० श्लो० २० उत्तरार्धम् । माघे 'वहति गिरिरयं विलम्बि–' इति शब्द-भेदः । अर्थभेदो न विद्यते ।

3 मा० च० स० श्लो० २१ द्वितीय–चतुर्थपादौ द्वितीय–चतुर्थपादत्वेन ।

4 मा० च० स० श्लो० २१ द्वितीय–चतुर्थपादौ द्वितीय–चतुर्थपादत्वेन ।

5 मा० च० स० श्लो० २२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

6 मा० च० स० श्लो० २२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

7 मा० च० स० श्लो० २३ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

8 मा० च० स० श्लो० २४ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

दद्दशुः पदं तदिह सारसं[१] गोचितं[२] सुदृशः प्रियैः सपदि सारसङ्गोचितम्[३] ।
सरितोऽपि यत्र जलगूढचामीकराः सवितुः क्वचित् कपिशयन्ति[४] चामी कराः[1] ॥ ३३ ॥
तीर्थादथ प्रचलितः प्रभुराप तीर्थ-द्रङ्गं स तुङ्गगृहशृङ्गगणैरुदीतम् ।
यत्राम्बुयन्त्रविगलज्जलरूपमब्धेर्विष्वक् तटेषु पतति स्फुटमन्तरिक्षम्[2] ॥ ३४ ॥
सौधानां स्फुटिकघटास्फुटाश्मगर्भसन्दर्भैर्वहति ततिः सपद्मरागैः ।
सङ्गोत्थां विधि[५]दुहितुः कलिन्द[६]जाया वैदग्धीमिह सरितः सुराप[७]गायाः[3] ॥ ३५ ॥
पुरे[८]ऽत्र दैवात् त्वमुपात्तदेहाऽसमान[९]वप्रे मणिसा[१०] नुरागाः[११] ।
जाताः प्रजास्तत् त्वयि देव ! कामं समा[१२] नवप्रेमणि सानुरागाः[4] ३६ ॥
इत्थं स मार्गणगणैरभिनूयमानः प्रापाश्रमं दधतमुज्ज्वलभित्तिभागे ।
हेमाम्बुजैर्भसित[१३]भासितनोः पुरारेरुद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम्[5] ॥ ३७ ॥
स्थितवति च गुरुस्थिताविहेशेऽभ्युदयदशाऽजनि सा जनस्य यस्याम् ।
गृहततिरतिमोदचित्रितोद्यत्-परिणतदिक्करिकास्तटीर्बिभर्ति[6] ॥ ३८ ॥
स्थाने स्थाने तरुणनृणां सङ्गीतैर्गीतैः स्त्रीणां मुदितजने ।
सद्रङ्गे द्रङ्गे रेजुः सरसफलाः शालीनां लीनां श्रेणीमिह तरवो बिभ्राणाः[7] ॥ ३९ ॥
वृष्टेऽम्भोदे सुरभिधने सापीने[१४] पीने क्षेत्रे बहललतानालोके ।
लोके रेजुः सजलसरस्यालीनां[१५] लीनां श्रेणीमिह तरवो बिभ्राणाः[8] ॥ ४० ॥
भास्वत्सुपर्वविलसज्जननन्दनेन नित्यं सुवर्णवरगोत्रभृता पुरेण ।
जिग्ये तदा श्रमण[१६]राजि विदेहवर्षमेतेन भारत[१७]मिलावृतवद् विभाति[9] ॥ ४१ ॥
रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिर्दिनकरैरिव रश्मिधरैरिह ।
सशरदं जलदर्तुमतीत्य तैर्जनपदेऽतिजगे जगदर्चितैः[10] ॥ ४२ ॥

---

१ 'सारसम्' सरस इदं सारसम् ।
२ 'गोचितम्' गोभिर्जलैः चितं पुष्टम् ।
३ 'सारसङ्गो-' प्रियैः सारः श्रेष्ठो यः संगः तस्य उचितम् ।
४ 'कपिशयन्ति' यत्र सरितः नद्यः सूर्यस्य कराः कपिशिताः कुर्वते-नदीः पिङ्गलास्तन्वन्ति सूरांशवः ।
५ 'विधि-' सरस्वत्याः ।
६ 'कलि-' यमुनायाः ।
७ 'सुराप-' गङ्गायाः ।
८ 'पुरे' "पुरेऽत्र दैवात् लक्ष्मङ्गयुक्त्याऽ-" इति पाठान्तरे मूर्तिमत् मणिसानुः रत्नशृङ्गम् आगाः । "सानुः पुंनपुंसके" ।
९ '-समान-' किंभूते पुरे ? असमानवप्रे अतुल्यप्राकारे ।
१० 'मणिसा' उपात्तदेहा मूर्तिमती त्वं मणिसा-रत्नलक्ष्मीः ।
११ 'नुरागाः' नुः मनुष्यस्य, अत्र पुरे आगाः आगतः ।
१२ 'समाः' सकलाः ।
१३ '-भसित-' भं नक्षत्रम् तद्वत् सितस्य ।
१४ 'सापीने-' आपीनम् ऊधः तेन सहिते ।
१५ '-आलीनां' सखीनां श्रेणिम् लीनाम्-आश्रिताम् बिभ्राणाः पोषयन्तः ।
१६ 'श्रमण-' श्रमणराजि विभाति सति-भासमाने सति ।
१७ 'भारत-' भारतं विदेहवर्षं जिग्ये । किंभूतं भारतम् ? इलया आवृतवत्-भुवा परिवृतवत् । "क्तवतु" प्रत्ययः ।

---

1 पूर्ववत् ।
2 मा० च० स० श्लो० २५ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'स्फुटमन्तरीक्षम्' ।
3 मा० च० स० श्लो० २६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
4 मा० च० स० श्लो० २७ द्वितीय-चतुर्थपादौ समस्यात्वेन ।
5 मा० च० स० श्लो० २८ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
6 मा० च० स० श्लो० २९ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
7 मा० च० स० श्लो० ३० चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'लीनामालीमिह' इति भेदः ।
8 पूर्ववत्
9 मा० च० स० श्लो० ३१ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
10 मा० च० स० श्लो० ३२ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

जिगमिषुर्मुनिराडथ दक्षिणां दिशमसौ शमसौहृदभृज्जनैः ।
अनुययेऽश्वरथेन पुरःसृतावयवैरिव जङ्गमतां गतैः[1] ॥ ४३ ॥
कुशेशयैर्यत्र जलाशयोषिता मुदा रमन्ते कल[१]भा विकस्वरैः ।
ययौ तमध्वानमयं सुयोषिता[२]मुदारमन्ते कल[३]भाविकस्वरैः[2] ॥ ४४ ॥
चमूषु येषां कनकैः समन्विता मुदा रमन्ते कलभाः विकस्वरैः ।
नृपास्तमिभ्यैः पथि गीत[४]मन्विता [५]मुदा रमं ते कल[६]भाविकस्वरैः[3] ॥ ४५ ॥
श्रीसूरतौ नृपतिसद्मनि वार्द्धिपक्षैर्वादे विभुं जयरमा परमाभिवव्रे ।
तल्लक्ष्म साम्प्रतमपि व्रतिराजयोऽत्र स्थानं परैरपरिभूतम[७]मूर्भजन्ते[4] ॥ ४६ ॥
जयश्रिया भूषितमत्र देवं विनिद्रनेत्रैः प्रविलोकयन्त्यः ।
बभुः स्त्रियः स्मेरमणीचकैर्वा[८] मधुव्रतव्रातवृतैर्व्रतत्यः[5] ॥ ४७ ॥
पुरि तोषमत्र परमापुरितो जनतास्त्रिसन्ध्यमुनिराज[९]नताः ।
सरस[१०]त्वमेव यदियात् सरसः पवनश्च धूतनवनीपवनः[6] ॥ ४८ ॥
दिवसा व्यतीयुरचिरादिव सा सुषमाऽऽस यामिह दधौ [११]सुषमा ।
नितरां च तां नु जनयन्नितरां पवनश्च धूतनवनीपवनः[7] ॥ ४९ ॥
विद्वद्भिरागमपरैर्विवृतं कथञ्चिद् ग्रन्थं शशास भगवान् कुमतव्यपोहम् ।
सम्यग्गणर्षभजनस्तमधीत्य [१२]मत्या गूढार्थमेष निधिमत्र गणं बिभर्ति[8] ॥ ५० ॥
सूरीशे प्रचलति दक्षिणां जनौघैः सङ्कीर्णे पथि पदवन्दनाय निन्ये ।
प्राणेशः कथमपि पाणिना निजस्त्रीमुत्तुङ्गस्तनभर(भङ्ग?)भीरुमध्याम्[9] ॥ ५१ ॥
[१३]पथे जिहानः स विभुर्ददर्श वनं ततोऽनेकतमालतालम् ।

---

१ 'कलभा–' कलभाः, करभा वा

२ '–उदारमन्ते' अन्ते समीपे, उदारम् अध्वानं ययौ

३ 'कलभावि–' कलाः मधुराः, भविकाज्जाता भाविका मङ्गलशब्दाः तेषां स्वरैः ।

४ 'पथि गीत–' ते नृपाः तं गुरुम् अन्विताः । किंभूतं गुरुम् ? इभ्यैः पथि मार्गे गीतं वर्णितम् ।

५ 'मुदा रमं' हर्षेण, रमं मनोज्ञम्–नारीमङ्गलगीतरम्यम् ।

६ 'कल–' कलः भावो येषु अस्ति ते कलभाविनः स्वार्थे के कलभाविकाः तादृक्स्वरैः ।

७ '–अमू'–व्रतिराजयः–मुनिश्रेणयः ।

८ '–वा' इवार्थे ।

९ '–राजनताः' अत्र पुरि जनताः परं तोषम् आपुः । किंभूताः जनताः ? त्रिकालं सूरिं नताः ।

१० अत्र अन्योक्तिः–यत्र सरसः पवन इयात् तत्र सरसत्वमेव भवेत् ।

११ 'सुषमा' नु वितर्के इतरां नवीनाम् सुषमां जनयन् । यां सुषमां शोभां सुषमा प्रथमारकः दधौ सा सुषमा आस ।

१२ 'मत्याः' मत्याः निधानम् गूढार्थं बिभर्ति पुष्णाति ।

१३ 'पथे' 'पथ'शब्दः अकारान्तः बृहद्वृत्तौ [सिद्धहेमचन्द्राख्यशब्दानुशासनस्य] तद्धिते ।

---

1 मा० च० स० श्लो० ३२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

2 मा० च० स० श्लो० ३३ तृतीयपादं विना सर्वं समानम् ।

3 मा० च० स० श्लो० ३३ द्वितीय–चतुर्थपादौ समस्यात्वेन ।

4 मा० च० स० श्लो० ३४ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'स्थानं परैरनभिभूतममूर्वहन्ति' इति भेदः । 'वहन्ति' स्थाने 'भजन्ति' इत्यपि माघपाठः ।

वार्द्धिपक्षैः–सागरगच्छानुयायिभिः मुनिभिः । वार्धिः—सागरः ।

5 मा० च० स० श्लो० ३५ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

6 मा० च० स० श्लो० ३६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

7 पूर्ववत् । आस–दिदीपे–असी दीप्तौ भौवादिक उभयपदी । लिखितादर्शे–'नवमीपवनः' इति प्रतिभाति ।

8 मा० च० स० श्लो० ३७ प्रथम–चतुर्थपादौ समस्यात्वेन । माघे 'निधिमन्त्रगणम्' इति भेदः ।

9 मा० च० स० श्लो० ३८ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे–'भरभङ्गभीरुमध्याम्' इति । अत्र आदर्शे 'भङ्ग' शब्दो न लिखितः ततश्च छन्दोभङ्गो भाति, अत्र लिपिकारप्रमादः ।

न पुष्पिताऽत्राधिगते[१] मुनीन्द्रावनन्तताने कतमा लताऽलम्[1] ॥ ५२ ॥
सुश्राद्धधर्मचतुराश्चतुराह्वयाद्यास्तत्सङ्घभक्तिमनुयोजनमादधानाः ।
मार्गे वितेनुरचलस्य तपस्विभर्तुर्नार्योऽनुरूपमधिवासमधि[२]त्यकासु[2] ॥ ५३ ॥
पुरमव[३]रङ्गसाहितनयेन कृतस्थिति विभुराप संहित[४]नयेन युतम् ।
ध्रुवदिवसं च यत्र सर[५]सा सरसामिह विदधाति धौतकलधौतमही[3] ॥ ५४ ॥
चातुरीत्याख्यया श्रेयसा[७] कान्तया दानशीलादिना श्रेयसाऽकान्तया[८] ।
भक्त्याऽसौ शिवासन्नतापाङ्गया[९] सेव्यतेऽनेकया सन्नतापाङ्गया[१०][4] ॥ ५५ ॥
तत्र स्थिते गणधरे कतिचिद् दिनानि नित्यं महेभ्यविहितोत्सवसान्द्रदेशात् ।
गन्तुं स्त्रियः स्तनभरादलसाः स्म तूर्यनिर्यत्स्वरश्रुतिसुखादिव नोत्सहन्ते[5] ॥ ५६ ॥
तस्मिन्नित्थं गच्छति काले बहुलाभे[११] शुक्रेऽचालीचातुरिकाप्रेरणयासौ ।
सौरैः[१२] पादैर्निर्मलरूपे घनमार्गे[१३] छायामच्छामृच्छति[१४] नीलीसलिलस्य[6] ॥ ५७ ॥
स प्रययौ मुनिसङ्घमुदीरन् सारतराग[१५]मना यतमानम् ।
साहिपुरोपवनं कुसुमाली-सारतरागम[१६]नायतमानम्[7] ॥ ५८ ॥
श्राद्धततिः समियाय गुरुं तं सारतरा[१७] गमनाऽऽयतमानम् ।
वाहनिका गजराजिविरूढा साऽरतराग[१८]मनायतमानम्[8] ॥ ५९ ॥

१ 'अत्र' वने, 'अधिगते' प्राप्ते, मुनीन्द्रौ गुरौ, अनन्तताने बहुविस्तारे । अत्र वने कतमा लता न पुष्पिता ? अपि तु सर्वाः ।

२ '-अधित्यकासु' वगलांणादेशे पर्वतोपरिस्थिते पर्वतोर्ध्व-भूमिषु ।

३ 'अवरङ्ग-' अवरङ्गनाम्ना साहिपुत्रेण कृता स्थितिः वसतिः यस्य तत् ।

४ 'संहित-' सम्यग्पुष्टनीत्या युतम् ।

५ 'सरसा' यत्र सरसा मही सरसा सजला दिनं ध्रुवं सदा विदधाति ।

६ नगण-जगण-भगण-जगणैः लघुना गुरुणा प्रतिपदम् अदः छन्दः ।

७ 'श्रेयसा' मङ्गलरूपेण । 'कान्तया' स्त्रिया ।

८ 'श्रेयसा' धर्मेण । 'कान्तया' मनोज्ञया । यद्वा 'अकान्तया' अकं दुःखम् तस्य अन्तो यस्याः सा तया ।

९ 'शिवा-' शिवो मोक्षः तदासन्नतायाम् अपाङ्गः कटाक्षो यस्याः तया ।

१० 'सन्न-' गततापशरीरया ।

११ 'बहुलाभे' कार्तिकतुल्ये शुक्रे ज्येष्ठे मासि । यद्वा बहुलः कृष्णपक्षः तस्य आभा छाया यत्र अथवा बहुः लाभो धर्मस्य यत्र ।

१२ 'सौरैः' सूरिसंबद्धैः सूर्यसंबद्धैर्वा ।

१३ 'घनमार्गे' नभसि ।

१४ -'ऋच्छति' शत्रन्तम् ।

१५ 'सारतरागमनाः' अरतरागं यद् मनः तत्सहितः [स+अरतराग+मनाः-सारतरागमनाः] 'यतमानम्' यतनया चलन्तम् ।

१६ 'सारतरा-' सारतरागम्-अतिश्रेष्ठवृक्षम् [सारतर+अगम्-सारतरागम्] 'अनायतमानम्' आयतो दीर्घः, मानो गर्वः तद्र-हितम् ।

१७ 'सारतरा' धनबला । गमने-गतौ, आयतमानम्-यत्नं कुर्वाणम्-गमने आ समन्तात् यत्नभाजम् ।

१८ 'सा अरतरागमना यतमानम्' सा श्राद्धततिः, अरतराग-मना-रते रमणे रागः-रतरागः । अरतरागं मनः यस्याः सा । यतमानम्-यतो बद्धः मानः-अहंकारो येन तं गुरुम्-मानस्य जेता-रम् । यद्वा 'सारतराऽऽगमना' श्राद्धततिः-सारतरम् अतिश्रेष्ठं आगमनं संमुखीनरीत्या यस्याः सा सारतरागमना-श्रावकाणां ततिः ।

1 मा० च० स० श्लो० ३९ द्वितीय-चतुर्थपादौ समस्यात्वेन ।
2 मा० च० स० श्लो० ४० चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।
3 मा० च० स० श्लो० ४१ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।
4 मा० च० स० श्लो० ४२ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।
5 मा० च० स० श्लो० ४३ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन । माघे--'स्वनश्रुति'-इति भेदः ।
6 मा० च० स० श्लो० ४४ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन । मत्तमयूरवृत्तम् ।
7 मा० च० स० श्लो० ४५ द्वितीय-चतुर्थपादौ समस्यात्वेन ।
8 पूर्ववत् ।

नत्वा जनः प्रभुमिति स्तुतिमाततान देवागमेन भवतो जनता ननन्दुः ।
तद् वर्ण्यते किमिह यत् सरसी[१]ष्वपीमा व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्यः[1] ॥ ६० ॥
निजमण्डलाभ्युदयिनीर्घनागमे कमलाकरः सपदि दर्शनाय ते ।
अभिमन्त्रयत्युत तरङ्गभृद्वयो[२]-विरुतेन वत्सलतयैव निम्नगाः[2] ॥ ६१ ॥
पुरमिदमुदितेश[३]मरुक्[४] कनकौघैः सारसं[५] च मुदिते[६] समरुक्[७] ।
इह पाकपिशङ्गलता[८]रजसा रोधश्चकास्ति कपिशं गलता[3] ॥ ६२ ॥
पुरमुख[९]महिमांशुसमं[१०] हरिचीरैः[११] कानने च महिमासु[१२] समम् ।
इह शाकपिशङ्गलतारजसा रोधश्चकास्ति कपिशं गलता[4] ॥ ६३ ॥
मधुकरविटपानमिता[१३] ननु मुक्त्वा योषितोऽत्र विटपाऽनमिताः ।
ददृशुरनिभृतं सहसा[१४] वनराजीसंश्रिता मुनिभृतं सहसा[5] ॥ ६४ ॥
इत्थं जनैः स गणभृत् पथि वर्ण्यमानः सद्रत्नतोरणमुपाश्रयमाविवेश ।
पूषेव शारदघनाभ्रमदभ्रशुभ्रमूर्ध्वप्रसारितसुराधिपचापचारु[6] ॥ ६५ ॥
स्थितवति गणपे महे महेभ्यकमलदृशो भृशमुज्जगुर्यशांसि ।
प्रतिदिनमधिसंस्थिता निवासान् शिखरशिलाशिखिशेखरानमुष्य[१५][7] ॥ ६६ ॥
सवधूकाः सुखिनोऽस्मिन्ननवरत[१६]ममं दरागता[१७]मरसदृशः[१८] ।
तत्सेवां नाभ्यमुञ्चन्ननवरतममन्दरागताऽमरसदृशः[१९][8] ॥ ६७ ॥
वर्षासु नित्यनवदानजिनार्चनादेः पुण्ये प्रसर्प्पति महे नगरी तदाऽभात् ।

१ 'सरसी–' सरसीषु अपि इमा नलिन्यः प्रबुद्धपद्मपुष्पतां दधते ।

२ '–वयो–' पक्षिशब्देन । 'निम्नगाः' नदीः अभिमन्त्रयति–आमन्त्रयति ।

३ 'पुरमिद–' इदं पुरं कनकौघैः कपिशम् '–उदितेशम्–' उदितस्वामिकम् ।

४ 'अरुक्' रोगरहितम् ।

५ 'सारसम्' सरसः तटं रजसा कपिशम् ।

६ 'मुदिते'–हर्षिते ।

७ 'समरुक्' तुल्यकान्ति ।

८ 'पाकपिशङ्गलता' पाकेन परिपक्वतया पिशङ्गा या लता सा पाकपिशङ्गलता ।

९ 'पुरमुखम्'–प्रतोली ।

१० 'अहिमांशुसमम्' अचन्द्रसमानम् ।

११ 'हरिचीरैः' स्वर्णवस्त्रैः ।

१२ 'कानने च महिमासु' वने उत्सवेषु समम्–सदृशं भाति ।

१३ 'मधुकरविटपानमिता–' मद्यहस्तविटपान् मुक्त्वा वनराजीसंश्रिताः अमिता बहवः योषितः मुनिभृतं गणनाथं योषितः ददृशुः अनिभृतं यथा स्यात् तथा औत्सुक्येन–एतेन स्वैरिण्योऽपि धर्मपरा जाता इति भावः ।

१४ 'सहसा' हासेन सहिता–हर्षवत्यः ।

१५ 'अमुष्य' नगरस्य

१६ 'अस्मिन् ननवरतममं' सुखिनः नराः सनारीकाः अत्र नगरे तस्य गुरोः सेवां न अभ्यमुञ्चन् । कथम् ? यथा स्यात् तथा न नवे रते रमणे ममं ममत्वं यत्र तत् ननवरतममम् । नञ्प्रतिरूपक 'न' इत्यव्ययेन समासः ।

१७ 'दरागता–' दरम् ईषत् आगतां प्राप्तां गुरोः सेवाम् ।

१८ '–अरसदृशः' किंभूताः सुखिनः ? अरसाः अलसाः दृशो येषां ते अलसदृशः गुरुदर्शनविस्मयात् ।

१९ '–अमन्दरागताऽमरस–' अत एव अनवरतं नित्यम् अमन्दरागतया निबिडप्रेमभावेन अमरतुल्याः ।

1 मा० च० स० श्लो० ४६ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

2 मा० च० स० श्लो० ४७ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

3 मा० च० स० श्लो० ४८ उत्तरार्धमुत्तरार्धतया । माघे 'परिपाकपिशङ्ग–' इति भेदः ।

4 पूर्ववत् ।

5 मा० च० स० श्लो० ४८ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

6 मा० च० स० श्लो० ४९ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

7 मा० च० स० श्लो० ५० चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'शिखरशिखाः शिखि–' इति पार्थक्यम् ।

8 मा० च० स० श्लो० ५१ समग्रः श्लोकः । माघे उत्तरार्धारम्भे 'नासेवन्ते रसवत्' इति भेदः ।

कान्तेव मण्डपमिषाद् वसनं वितत्य धूपायतीव पटलैर्नवनीरदानाम्[1] ॥ ६८ ॥
वेश्म स्वं कृतवरमण्डपं महेभ्यैर्मार्गादौ तपतपने महेन नीते ।
रत्नानां निचितरुचाऽचकात् पुरेऽस्मिन्-आकाशे रचितमभित्ति चित्रकर्म[2] ॥ ६९ ॥
गृहोच्चवसुंधासिततमा तमास्वपि कराकरादिह तदा ।
जिगाय रुचिराऽचिरात् ध्रुवमपामपायधवला बलाहकततीः[3] ॥ ७० ॥
मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः ।
यां ते रमां ययुरमा यशसाऽधुनान्ये वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्[4] ? ॥७१॥
सूरेः श्रुतोज्ज्वलयशाः क्षितिपातिसाहिरानम्य यां स्वविषयेऽधित जीवरक्षाम् ।
नैवाधुना तदनुजा गुणरागिणोऽस्य वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्[5] ॥७२॥
क्षितिपतिपतिशासनाद् विहाराः व्रतिपतिदेशनया जनैः प्रणीताः ।
तदनु च कनकैर्विमानलक्ष्मीमिह दधति स्फुरिताणुरेणुजालाः[6] ॥ ७३ ॥
नाम्बुदेऽभ्युदयिनि प्रिया प्रियान् स्वानमा नमति काऽऽलिमालया ।
का प्रजा न विनता गुरौ तथाऽस्वानमानमतिकालिमालया[7] ॥ ७४ ॥
तीर्थानि नन्तुमथ तेन पथा चचाल सङ्घः समं स गुरुणा करुणाकरेण ।
यत्राचलेषु झरधौतलताजटालास्तीव्रं महाव्रतमिवात्र चरन्ति वप्राः[8] ॥ ७५ ॥
यद्देशे धृतहरिवर्णनाविनोदाः पानीयाः सुरसवनागमैर्नरादेः ।
व्यासस्य द्रुपदभुवाऽविनाकृतानां साधर्म्यं दधति गिरां महासरस्यः[9] ॥ ७६ ॥
वसति यत्र जनो विभया युतः प्रतिपुरं रिपुभाविभयाऽयुतः ।

१ '-मार्गादौ' मृगशिरःप्रमुखमासेषु मासकल्पकरणादौ ।
२ 'तपत-' तपगणभानौ ।
३ 'गृहोच्चवसु-' गृहोच्चभूमिः मेघश्रेणीर्जिगाय इत्यन्वयः ।
४-'अपामपायध-' अपाम् अपाये नाशे धवला ।
५ 'समाधिभृतो-'यां रमां श्रियं ते गुरवः प्रापुः तां समाधिभृतोऽन्ये योगिनोऽपि संग्रहीतुं वाञ्छन्ति यशसा सह ।
६ 'गुणरागिणो-' अस्य समाधिभृतः सूरेः गुणरागिणः तत्साहिपरंपराजाताः अधुनाऽपि तां जीवदयां निषेद्धुं नैव वाञ्छन्ति ।
७ 'स्वानमा' स्वान् अमा सह ।
८ 'काऽऽलिमा-' का आलिमालया सखीश्रेण्या ।
९ '-अस्वानमान-' न विद्यते स्वाने शब्दवचने, माने काय-बहुमाने, मतौ बुद्धयाम् कालिमा कृष्णता तस्या आश्रयो यस्याः सा -भावशुद्धा त्रिधाऽपि ।
१० 'वप्राः' तटानि ।
११ 'यद्देशे' यस्मिन् देशे महासरस्यः व्यासस्य गिरां साम्यं दधति । किंभूताः गिरः ? धृता या हरिवर्णा पीतवर्णा नौः प्रवहणं तस्याम्-नावि नोदाः प्रेरणाः यासु । विभक्तेरलुक् । 'नरादेः' जीवस्य । 'सुरस-' सुरसं यत् वनं जलम् तस्य आगमैः 'पानीयाः' पातुं योग्याः । 'द्रुपद-' द्रूणां पदं स्थानं या भूः पृथ्वी तया अविनाकृताः-युक्ताः ।
पक्षे नरादेः अर्जुनप्रभृतेः सुरसं यद् वनम् अरण्यम् तत्र आगमैः द्रष्टुं योग्याः । 'हरि-' हरिः कृष्णः तस्य स्तुतिविलासधराः यत्र नोदाः प्रेरणाः । 'द्रुपद-' द्रुपदभुवा पाञ्चाल्या युक्तानाम् । तथा 'सुरस-' सुराणां सवनाय स्नानाय आगमाः तैः-इत्यपि । "नरः कृष्णेऽर्जुनेऽपि च" । [है० अने० सं० का० २ श्लो० ४२३]
१२ 'विभया' विभा प्रभा तया-कान्त्या ।

1 मा० च० स० श्लो० ५२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
2 मा० च० स० श्लो० ५३ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
3 मा० च० स० श्लो० ५४ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । 'कराकरात्'-किरणसमूहात् इति भावः ।
4 मा० च० स० श्लो० ५५ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
5 पूर्ववत् ।
6 मा० च० स० श्लो० ५६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
7 मा० च० स० श्लो० ५७ द्वितीयचतुर्थपादौ समस्यात्वेन ।
8 मा० च० स० श्लो० ५८ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
9 मा० च० स० श्लो० ५९ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

ललति चानुवनं चमरीचयः कनकरत्नभुवां च मरीचयः[1] ॥ ७७ ॥
नत्वा गिरौ पथि जिनं कलिकुण्डपार्श्वभास्वन्तमम्बुधितटे करहेडपार्श्वम् ।
देवोऽभिनम्य न दधेऽप्रतिबद्धचाररागीव सक्तिमधिकां विषयेषु वायुः[१][2] ॥ ७८ ॥
सङ्घं भक्त्या कृतजिनमहनं तीर्थे तत्र स्थितमतिचलनैः ।
खिन्नं भेजुर्जलनिधिपवनाः क्रीडायासश्रमशमपटवः[3] ॥ ७९ ॥
उक्षार्थिनालम्भि न जन्मतोऽपि स दानतो येन विषाणिनागः ।
तस्मै ददे सङ्घजनेन तत्र सदानतोयेन विषाणिनागः[२][4] ॥ ८० ॥
तीर्थान्यथैवमभिनम्य कृतप्रयाणे सङ्घे प्रतिस्वनगरं समयोचिताभिः ।
सेवाविधाभिरयमध्वनि वेद सूरिर्न द्वन्द्व[३]दुःखमिह किञ्चिदकिञ्चनोऽपि[5] ॥ ८१ ॥
कृतनगरनिवेशं प्रौढशोभाभिरामं श्रमणपदमधीशः शिश्रिये हंसगौरम् ।
ध्वजपटलजटालं बिभ्रदुद्भूतिभावैरधिगतधवलिम्नः शूलपाणेरभिख्याम्[6] ॥ ८२ ॥
प्रभोस्तव वचःश्रुतेर्विमलशीलधानादरा[४]दनङ्गविमुखा जनास्तनुभृतां वधानादराः ।
निशम्य वचनं कवेरपि च नात्र कादम्बरं[५] हरन्ति रतये रहः प्रियतमाङ्गकाद[६]म्बरम्[7] ॥८३॥
देव ! तवात्र शीलवचसि श्रुतवति सततं माऽन्यजन[७]स्य दर्शनमिति द्रुततरगमनाः ।
चित्रितमध्यभूषु भवनं दिनमुखसमये काञ्चनकन्दरासु तरुणीरिह नयति रविः[८][8] ॥ ८४ ॥
पुरि तदिह निगम्या प्रावृडित्याग्रहेणाऽऽस्थित बहुधनभाजां योगभाजां महेज्यः ।
नभसि नभसि रुद्धे सैन्द्रचापोत्तरीयैर्हलधरपरिधानश्यामलैरम्बुवाहैः[9] ॥ ८५ ॥

॥ इति श्रीदेवानन्दे महाकाव्ये दिव्यप्रभापरनाम्नि ऐङ्काराङ्के माघसमस्यार्थे श्रीतपापक्षीयमहोपाध्यायश्रीमेघविजयगणिविरचिते यमकरम्यश्चतुर्थः सर्गः सम्पूर्णः ॥

---

१ 'वायुः' वायुः इव अप्रतिबद्धरागचारी गुरुः विषयेषु देशेषु अधिकं सक्तिं प्रीतिं न दधे पुपोष–अन्तर्णिगर्थः–लोकानामिति गम्यम् ।

२ 'विषाणि–' येन अर्थिना 'जन्मतः' आरभ्य 'दानतः' 'स' प्रसिद्धः 'उक्षा' वृषभः 'न' 'अलम्भि' प्राप्तः । किंभूतः उक्षा ? विषाणिषु शृङ्गिषु नागः श्रेष्ठः । 'तस्मै' अर्थिने 'सदानतोयेन' दानाञ्जलिजलयुक्तेन 'संघजनेन' 'विषाणिनागः' विषाणी दन्तवान् नागः गजः 'ददे' दत्तः ।

३ 'द्वन्द्व'–द्वन्द्वं शीतातपादि ।

४ '–शीलधानादराद–' विमलशीलधरणस्य आदरात् । 'विमलशीलधानाः' इति भिन्नं पदम् । 'दरात्' भयात् ।

५ 'कादम्बरम्' कादम्बर्याः कषायाः तेषु भवं कादम्बरम् ।

६–'काद् अम्बरम्' प्रियतमाशरीरात् अम्बरं वसनं न हरन्ति । 'रतये' क्रीडायै न पुनः संभोगाय ।

७ 'अन्यजनस्य' दर्शनं मा स्यात्–"असूर्यंपश्या राजदाराः" इति न्यायात् ।

८ 'रविः' काञ्चनस्य कन्दलाः अङ्कुराः यासु तासु चित्रितमध्यभूषु द्रुततरगमनाः तरुणीः भवनं नयति रविः ।

---

1 मा० च० स० श्लो० ६० तृतीय–चतुर्थपादौ । माघे 'स्फुरति चानुवनम्' इति क्रियाभेदः ।

2 मा० च० स० श्लो० ६१ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

3 मा० च० स० श्लो० ६२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

4 मा० च० स० श्लो० ६३ द्वितीय-चतुर्थपादौ समस्यात्वेन, केवलम् पदच्छेदभेदः ।

5 मा० च० स० श्लो० ६४ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

6 मा० च० स० श्लो० ६५ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

7 मा० च० स० श्लो० ६६ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

8 मा० च० स० श्लो० ६७ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन । माघे 'काञ्चनकं दरासु' इति पदविभागः ।

9 मा० च० स० श्लो० ६८ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

पञ्चमः सर्गः ।

॥ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वपरमेश्वराय नमः ॥

देवप्रतिष्ठितविधावथ देवचन्द्रः[१] श्राद्धः श्रियो व्यधित याः स्फुटभावं चन्द्रः[२] ।
तन्मण्डपे च शुशुभे तुलनाऽवसाने[३] तासां गिरौ च वनराजिपटं वसाने[1] ॥ १ ॥
सूरेस्तपोभिरमलैर्निहतान्तराये तत्र क्षणे क्षितिपतेरभवत् सहायः ।
पुन्नागवान् कदलिका[४]वलिचारुचैलैर्लक्ष्मीं दधत् प्रतिगिरेरलघुर्बलौघः[2] ॥ २ ॥
यात्रां जलस्य गुरुणा सह संविधातुं सङ्घे बलेन मिलिते चलिते निजालीः ।
प्रैषीद्दिदृक्षितुमिहानयनाय सर्वाः पृथ्वी[५] रजः करभकण्ठकडारमाशाः[3] ॥ ३ ॥
साडम्बराः सुरविधोः[६] स्वजनाश्ववाराः उत्क्षिप्यमाणचमरालिलसत्कुमाराः ।
रेजुस्तदा प्रतिपदं निजवर्गपूर्णास्तूर्णं पयोधय इवोर्मिभिरापतन्तः[4] ॥ ४ ॥
यात्राभिषेकमहनाञ्जनसत्क्रियासु बिम्बावलेर्ध्वनिततूर्यरवैर्विहस्तौ ।
लुब्धौ वधूकलरवैः स्खलनेऽपि नालमन्योन्यतः पथि बताऽबिभितामिभोष्ट्रौ[5] ॥ ५ ॥
एवं वितीर्णविभवं सुकृतेषु रूप्यैः सम्पूज्य भोज्यवसनैः प्रतिलाभयन्तम् ।
तं बहुमन्यत गुरुर्भुवि देवचन्द्रं सर्वः प्रियः खलु भवत्यनुरूपचेष्टः[6] ॥ ६ ॥
नान्दीरवैः सह महीशबलानुगम्ये सङ्घेऽभियाति समहं समचैत्यनत्यै ।
वीक्षोत्सुकाऽपि रभसाज्जनदृष्टिमार्गे विस्रस्तवस्त्रमवरोधवधूः पपात[7] ॥ ७ ॥
श्रीदेवचन्द्रवणिजः सदनात् तदानीं सङ्घस्य भोजनदिने मुदितार्थिसार्थे ।
धूमा महानसभुवो दिवि मेघरूपाश्चक्रीवदङ्गरुहधूम्ररुचो विसस्रुः[8] ॥ ८ ॥
सर्वे वणिग्मणिवरेण सुरेन्दुना[७] ते सम्मानिताः प्रतिगृहं स्वजनाश्ववाराः ।
जग्मुः क्रमात् पथि मुदा हयनर्तनाय शैलस्य दर्दरपुटानिव वादयन्तः[9] ॥ ९ ॥
सम्मान्य रत्नवसनैः क्षितिराजराजा दत्तः सुरेन्दुवणिजे विपणौ तुरङ्गः ।

---

१ 'देवचन्द्रः' देवचन्द्रः याः श्रियः शोभा व्यधित तासां तुलना साम्यं तन्मण्डपे 'च' पुनर् गिरौ शुशुभे ।

२ '–चन्द्रः' "चन्द्रोऽम्बु–काम्ययोः । स्वर्णे सुधांशौ कर्पूरे कम्पिल्ये मेचके च" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ४०६]

३ '–अवसाने' अवनम् अवः जीवरक्षा तस्याः सानं दानं यत्र मण्डपे । "षणूयी दाने धातुः" । यद्वा अवसाने अनन्ते–'अवसान'शब्दस्य अवोपसर्गाकारलोपे वसानः अन्तः तन्निषेधे अवसानः अनन्तः ।

४ 'कदलिका–' "कदली वैजयन्त्यां रम्भायां हरिणान्तरे" इति विश्वः । [विश्व० लान्तव० श्लो० ६७]

५ 'पृथ्वी' पृथ्वी सर्वा आशा दिशः ईक्षितुम् आनयनाय रजः प्रैषीत् ।

६ 'सुरविधोः' देवचन्द्रस्य ।

७ 'सुरेन्दुना' देवचन्द्रेण ।

---

1 'स्फुटभावं चन्द्रः' इत्यत्र भावशब्दशिरस्थोऽनुस्वारः अस्य चित्रकाव्यत्वेन अत्र न गण्यते, अतो न छन्दोभङ्गः ।
मा० पं० स० श्लो० १ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

2 मा० पं० स० श्लो० २ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

3 मा० पं० स० श्लो० ३ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'पृथ्वीरजः' इति समस्तम् ।

4 मा० पं० स० श्लो० ४ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

5 मा० पं० स० श्लो० ५ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

6 मा० पं० स० श्लो० ६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

7 मा० पं० स० श्लो० ७ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

8 मा० पं० स० श्लो० ८ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

9 मा० पं० स० श्लो० ९ माघे 'दर्दुरपुटा'—इति ।

प्रीत्योल्लसन्निव समाश्रयणेऽस्य जात्यश्चित्रं चकार पदमर्द्धपुला[१]लयेन[1] ॥ १० ॥
बिम्बाभिषेचनदिदृक्षुनरेन्द्रसान्द्रपश्चाद्वलोद्वल[२]चलत्तुरगप्रणुन्नः ।
पूतः प्रभोरिव पदैर्दिवमाप्तुमिच्छुः पांशुर्दिशां मुखमतुच्छयदुत्थितोऽद्रेः[2] ॥ ११ ॥
सूरिस्ततोऽथ नगरान्नगराजितेऽगात् द्रङ्गेऽवरङ्गपदभाजि जनैरभाजि ।
तन्न्युञ्छनस्थितिरतस्तदलं विरेजुर्मुक्ताफलप्रकरभाञ्जि गुहा[३]गृहाणि[3] ॥ १२ ॥
उत्साहिसाहितनयप्रतिशासनेन रङ्गत्तुरङ्गचतुरङ्गचमूयुजाऽस्मिन् ।
सङ्घेन सार्द्धमयमाश्रयदुच्चचूलं स्वावासभागमुरगाशन[४]केतुयष्ट्या[4] ॥ १३ ॥
ऐरावतीं[५] तनुरुचं शुचि[६]सम्भवेन बिभ्राणमेनं[७]मुदयेन घनायमानम् ।
संवीक्ष्य कोपि न परत्र जनः स्म तेजो-वर्द्धिष्णुमाश्रयमना[८] गतमभ्युपैति[5] ॥ १४ ॥
ज्येष्ठ[९]स्थितौ स्थितमदुःस्थितमुग्रलक्ष्मीं संराद्धुमीशमिह धर्ममहोत्सवेषु ।
ऋष्टुं महोदयमिव स्वजनेन दूरादुद्बाहुनाऽऽजुहुविरे मुहुरात्मवर्ग्याः[6] ॥ १५ ॥
विश्वेक्षणं[१०]क्षणजरूप्यकदक्षिणाभिर्देशा[११]भिधान्वयविधामभिधारयन्तः ।
श्राद्धास्तदार्थिजनकल्पितदान[१२]कल्पैः कल्पद्रुमैः सह[१३] विचित्रफलैर्विरेजुः[7] ॥ १६ ॥
उन्नीय पुण्यमपनीयमपुण्यमेवं पार्श्वं निनंसुरगमद् गुरुरन्तरिक्षम् ।

---

१ '–पुला–' पुला नाम प्लुताद्यनेकापरनामा हयानां गतिविशेषः ।

२ '–पश्चाद्वलोद्वलच–' "वल धातुः" आत्मनेपदी । पश्चाद् वलते इति पश्चाद्वलः स चासौ उद्वलः अधिकवीर्यः चलन् यस्तुरगः तेन प्रणुन्नः प्रेरितः ।

३ 'गुहा–' गुहावत् गृहाणि गुहागृहाणि । यद्वा 'गुहा' इति भिन्नपदम् ।

४ '–उरगाशन–' गरुडध्वजेन उच्चचूलम् ।

५ 'ऐरावतीम्' ऐरावतो हस्तिमल्लः तत्संबन्धिनीं शरीरकान्तिम् । पक्षे स्वल्परुचिम् । घनपक्षे ऐरावतीं विद्युतम् ।

६ 'शुचि–' "शुचिः शुद्धे सितेऽनले । ग्रीष्मा-ऽऽषाढानुपहते-षूपधाशुद्धमन्त्रिणि शृङ्गारे च" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ५९]

७ '–एनम्–' एनं गुरुं वीक्ष्य कोऽपि जनः परत्र 'गतम्' गमनं नाभ्युपैति स्म ।

८ '–आश्रयमना–' आश्रये मनो यस्य स आश्रयमनाः ।

९ 'ज्येष्ठ–' चतुर्मासके ।

१० '–क्षण–' "क्षणः कालविशेषे स्यात् पर्वण्यवसरे महे । व्यापारविकलत्वे च परतन्त्रत्वमध्ययोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० १३३]

११ 'देशा–' देशनाम दक्षिणा इति सत्यं कुर्वन्तः ।

१२ '–दानकल्पैः' अर्थिजनेषु कल्पितः कृतः दानकल्पो दानविधिर्यैस्ते–तैः ।

१३ 'सह' इवार्थे ।

---

1 मा० पं० स० श्लो० १० चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन । माघे 'पुलायितेन' इति भेदः ।

पुला नाम प्लुताद्यनेकापरनामा हयानां गतिविशेषः । तदुक्तं हयलीलावत्याम्—

"प्लुतां प्लवङ्गितामाहुर्या धारा पुलनाभिधा ।

पुनरेनां रलोपान्तां पुलामित्याह देशिकः ॥ तल्लक्षणं च तत्रैवोक्तम्—

क्षिपति समविशेषानुत्क्षिपत्यग्रपादान्
प्रसरति पुरतोऽश्वः साधु धारा पुलाख्या ।
विलसति समपादोत्क्षेपणाकुञ्चनानां
करणमिह गतिज्ञाः प्राहुरन्ये पुलाख्याम्" ॥

इत्यादि हयगतिसंबन्धि सविस्तरं वर्णनं माघस्य मल्लिनाथीयटीकातोऽवगन्तव्यम् ।

2 मा० पं० स० श्लो० ११ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'मुखमतुत्थयदुत्थितो—' इति भेदः । अत्र 'च्छ'–'त्थ' कारयोः लिपिसाम्यमेव पाठभेदनिबन्धनम् । लिखितप्रतौ तु 'अतुच्छयत्' इति स्पष्टं वाच्यते । आचार्यहेमचन्द्रस्तु एनमेव पादं स्वीये धातुपारायणे (पृ० २८८) "पांशुर्दिशां मुखमतुत्थयदुत्थितोऽद्रेः" इत्येव निर्दिशति, अतोऽवगम्यते यत् 'अतुत्थयत्' इति साधुतरम् । लिपिकारप्रमादाच्च 'अतुच्छयत्' इति जातम् । "तुत्थ आच्छादने इति चौरादिको धातुः"—मल्लिनाथटीका ।

3 मा० पं० स० श्लो० १२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

4 मा० पं० स० श्लो० १३ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

5 मा० पं० स० श्लो० १४ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

6 मा० पं० स० श्लो० १५ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

7 मा० पं० स० श्लो० १६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

गत्वाऽऽतपत्रितफणागणमस्य पद्मं [२]वक्त्रं श्रियः सभयकौतुकमीक्षते स्म[1] ॥ १७ ॥
निन्ये विभुर्मणिमयप्रतिमाः प्रतिष्ठां सङ्घस्तदर्चनमहो स्थितिरुत्तमानाम् ।
व्याप्तौ [३]भुवोऽपि वरदीपनचन्दनानि गण्डस्थलीः शुचितया न चुचुम्बुरासाम्[2] ॥ १८ ॥
कर्पूरपूर्णवरवर्णरसानुलेपैर्देवार्चनाय सुगतागतचञ्चलाक्षीः ।
आलिङ्गयन् व्रतिवरा रभसा रसार्द्रगण्डस्थलीः शुचि[४]तया न चुचुम्बुरासाम्[3] ॥ १९ ॥

[पाठान्तरम्]

अन्योन्यभोजनविधानकृतावधानः सङ्घो न नैकपुरजः प्रतिगन्तुमैच्छत् ।
इभ्यैर्विना वितरणेऽतिशयं [५]स्ववारे [६]सङ्घर्षिणा सह गुणाभ्यधिकै[७]र्दुरासम्[4] ॥ २० ॥
स्थित्वा दिनानि कतिचित् प्रतिजग्मुषोऽस्य सूरेरथो पथि जनैर्मिलिता जनानाम् ।
बर्हानपूर्वनगरान्नगराजसत्कपादा इवाधिबभुरावलयो रथानाम्[5] ॥ २१ ॥
बर्हानपूर्जनकृताग्रहतस्त्वराभिरागन्तुकं सबहुसङ्घगुरुं निशम्य ।
तत्रोत्सवोच्छ्रि[८]तपतत्रितदूष्यराजितारावलीविरचनैर्व्यरुचन्निवासाः[6] ॥ २२ ॥
आनन्दनन्दकतयाभिनदत्सु नान्दीनादेषु सम्मदकलैर्धवलैर्वधूनाम् ।
आस्तां जनः क्षणमवापि न चापि रात्रौ निद्रासुखं वसनसद्मसु राजदारैः[7] ॥ २३ ॥
राजन्यराजिगजवाजिविराजिसङ्घनिर्दिश्यमानपदसूरिवरप्रवेशे ।
तद्विस्मयस्मितमुखी विविधक्रियाभिः शा[९]तोदरी युवदृशां क्षणमुत्सवोऽभूत्[8] ॥ २४ ॥
सर्वत्र चित्रशतपत्रमुखीभिरुच्चैर्निर्मीयमाणबहुमङ्गलसंविधानैः ।

---

१ '–फणा–' "गोविषाणे फणा ज्ञेया भुजंगस्य फणः फणा । फणा जटा फणा तृष्णा फणा मन्थानकुण्डली" ॥ इति अनेकार्थमञ्जरी [श्लोकाधि० श्लो० ९०]

२ 'वक्त्रम्' अस्य पार्श्वप्रभोः वक्त्रं पद्ममिव इति लुप्तोपमा ।

३ 'व्याप्तौ' भूव्यापनेऽपि केसरादेः मर्यादानतिक्रमः । प्रतिमानां नैर्मल्यं ज्ञापितम् ।

४ 'शुचि–' ब्रह्मचारी सदा शुचिः ।

५ 'स्ववारे' इभ्यैः स्ववारे स्वसमये विशेषात् दानशौण्डैर्भाव्यमिति भावः ।

६ 'संघर्षिणा' संघश्च ऋषिश्च संघर्षिः । सर्वो द्वन्द्वो विभाषया एकवद् इति ।

७ '–दुरासम्' संघर्षिणा सह वितरणे दाने अतिशयं विना दुःखेन स्थीयते–यदा ते अधिकाधिकं दद्युः तदैव ते सुखिता भवन्ति अन्यथा दुःखिताः स्युः इति तेषां अधिकदानरसिकत्वं ज्ञापितम् ।

८ '–उत्सवोच्छ्रित–' उत्सवेन हेतुना उच्छ्रितानि उन्नीतानि । पतत्रं पक्षः तद्वद् आचरितानि दूष्याणि पटमण्डपाः तेषां श्रेणिः तस्यां तारावलीविरचनैः मुक्ताग्रथनैः । तारावलीनां रज्जुश्रेणीनां विरचनैर्बन्धनैः उड्डयनाय उद्यता इति भावः । "तारा मुक्तादिसंशुद्धौ तरले शुद्धमौक्तिके" इति विश्वः [विश्व० रान्तव० श्लो० ४१] "तारावली रज्जुसंततिः" इति केचित् । "दूष्यं वस्त्रे च तद्गृहे" इति विश्वः [विश्व० यान्तव० श्लो० २९] 'व्यरुचन्' "द्युद्भ्योऽद्यतन्याम्" [३।३।४४ हैम०] इति परस्मैपदम् ।

९ आचार्यहेमचन्द्रस्तु स्वीयदेशीनाममालाटीकायां कृशार्थस्य छातशब्दप्रतिरूपस्य 'छाअ' शब्दस्य विवरणप्रसङ्गे एनं चतुर्थं पादमित्थं निर्दिशति–"छातोदरी युवदृशां क्षणमुत्सवोऽभूत्"–देशीनाममाला वर्ग ३, गाथा ३३ ।

---

1 मा० पं० स० श्लो० १७ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'वक्त्रश्रियः' इति भेदः ।

2 मा० पं० स० श्लो० १८ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

3 पूर्ववत् ।

4 मा० पं० स० श्लो० १९ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

5 मा० पं० स० श्लो० २० चतुर्थः पादः चतुर्थतया । माघे 'अभिबभुः' इति ।

6 मा० पं० स० श्लो० २१ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

7 मा० पं० स० श्लो० २२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

8 मा० पं० स० श्लो० २३ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

श्रीभाग्यनामनगरीं सुगुरावुपेते नित्योत्सवोच्छ्रितचलद्ध्वजराजिवातैः ।
स्वःस्पर्द्धिनीं गिरितटीमलकां निनाय नान्यस्य गन्धमपि मानभृतः सहन्ते[1] ॥ ४३ ॥
दूरादुपेत्य दुरितस्थितिदारिदारैर्युक्तैर्विधाय विधिना विविधार्घदानम् ।
भव्याङ्गिनां[१] गुरुपदाम्बुरुहि व्ययान्नो मम्ले यथागतमगामि कुलैरलीनाम्[2] ॥ ४४ ॥
तत्रोत्सवैरभिनवैर्विभवैः प्रभाव्य जैनं मतं मुनिपतौ चलिते हयेन्द्राः ।
नीताः पथं कथमपि त्वपथेन चेलुर्नैवात्मनीन[२]मथवा क्रियते मदान्धैः[३][3] ॥ ४५ ॥
सूरेरमुष्य पथि पुष्यति चाभिमुख्यं विद्यापुरौकसि[४] जने सहचारिणीव ।
आतिथ्यतथ्यविधयेऽथ मिथस्तथैकान्नागान् बबन्धुरपरान् मनुजा निरासुः[५][4] ॥ ४६ ॥
सिन्धोस्तटे वनवटेषु पटीकुटीषु सार्थागताभिगतसङ्घजनस्य तस्य ।
[६]चर्चिक्यगन्धरतिनेक्षणदोषमोषात् कण्ठे गुणत्वमलिनां वलयेन भेजे[5] ॥ ४७ ॥
विद्यापुरे भगवदागमनेन सद्यः प्राक् तद्विनिर्णयकृतां गणकाग्रणीनाम् ।
वर्द्धापने बहुधनैः सदनेऽभ्यनन्दि शास्त्रं हि निश्चितधियां[७] क न सिद्धिमेति ?[6] ॥ ४८ ॥
स्तम्भं[८] महान्तमुचितं सहसा मुमोच दानं ददावतितरां सरसाग्रहस्तः ।
बद्धापराणि[९] परितो निगडान्यलावीत् द्राग् बन्दिनां क्षितिपतिः प्रमदात् तदानीम्[7] ॥ ४९ ॥
भद्रोत्तमस्य[१०] कलभस्य[११] सुकल्पितस्य दानोदये[१२] परिणतस्य[१३] रतेस्त्रिपद्याम्[१४] ।
श्राद्धस्य शुद्धसमरो[१५]चितभाविनः श्रीः स्वातन्त्र्यमुज्ज्वलमवाप[१६] करेणुराजः[8] ॥ ५० ॥

---

१ 'भव्याङ्गिनाम्' किम्भूतानां भव्याङ्गिनाम् ? गुरुपदाम्बुरुहि अलीनाम, तेषां कुलैः समूहैः व्ययात् द्रव्यव्ययकरणात् नो मम्ले न संकुचितम् किन्तु यथागतं सोत्साहम् अगामि ।

२ '-आत्मनीन-' आत्मने हितम् आत्मनीनम् ।

३ 'मदान्धैः' "मदो रेतस्यहंकारे मद्ये हर्षेभदानयोः । कस्तूरिकायां क्षैब्ये च" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० २२८]

४ 'विद्यापुरौ-' विद्यापुरे ओकः गृहं यस्य स-तस्मिन् ।

५ 'निरासुः' एकान् कतिचिद् गजान् बबन्धुः अपरान् जलपानाद्यर्थं निरासुः । अस्यतेः परोक्षा ।

६ 'चर्चिक्य-' चर्चिक्यं विलेपनम् ।

७ 'निश्चितधिया-' 'विभक्तधना भ्रातरः विभक्ताः' इतिवत् निश्चिता धीरपि निश्चिता इति उपचर्यते । अत एव अत्र गम्यमानार्थत्वात् उत्तरपदस्य अप्रयोगलक्षणो लोपः ।

८ 'स्तम्भम्' 'उचितम्' "स्तम्भः स्थूणा-जाड्ययोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ३०७] "उचितं विदिते अभ्यस्ते मिते युक्ते" इत्यपि [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० २४२]

९ 'बद्धापराणि' बद्धः अपरो जनो येषु तानि-उभयोः एकबन्धनरूपाणि ।

१० 'भद्रोत्तमस्य' "भद्रं तु मङ्गले । मुस्तकश्रेष्ठयोः साधौ काञ्चने करणान्तरे । भद्रो रामचरे हस्तिजातौ मेरुकदम्बके ॥ गवि शंभौ" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ४३१-४३३] भद्रैः उत्तमस्य । पक्षे भद्रं मङ्गलम् काञ्चनं वा तेन श्रेष्ठस्य । 'सुकल्पितस्य' सज्जितस्य ।

११ 'कलभस्य' कला मधुरा भा यस्य-सुविचारस्य ।

१२ 'दानोदये' दानम् मदः तस्य उदये ।

१३ 'परिणतस्य' परिणतः तिर्यग्दत्तप्रहारः ।

१४ '-त्रिपद्याम्' त्रिपदी उत्पादादिः तत्र रतेर्धारणात् । पदो त्रिपदी गात्रबन्धः तस्यां रतेः ।

१५ 'समरो-' "समरो युद्ध-संघयोः" इति अनेकार्थध्वनिमञ्जर्याम् । [श्लो० २१० पादाधि०]

१६ -'अवाप' श्राद्धस्य तथा हस्तिनः श्रीः उज्ज्वलं दीप्तं स्वातन्त्र्यमवाप । "उज्ज्वलस्तु विकाशिनि शृङ्गारे विशदे दीप्ते" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० ६२०]

---

1 मा० पं० स० श्लो० ४२ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

2 मा० पं० स० श्लो० ४३ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

3 मा० पं० स० श्लो० ४४ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

4 मा० पं० स० श्लो० ४५ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।

5 मा० पं० स० श्लो० ४६ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । 'अलिनाम्' अमरवाचकः 'अलिन्' शब्दः नकारान्तोऽपि ।

6 मा० पं० स० श्लो० ४७ चतुर्थः पादः चतुर्थतया । वेङ्कटेश्वरमुद्रिते माघे 'शास्त्रं सुनिश्चित-' इति पाठः स एव पाठो मल्लिनाथेन व्याख्यातः ।

7 मा० पं० स० श्लो० ४८ प्रथमतः पादत्रयं समस्यात्वेन ।

8 मा० पं० स० श्लो० ४८ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

'परिणतस्य' "तिर्यग्घाती परिणतो गजः"-[है० अभि० कां० ४ श्लो० २८७]

श्रीदेवचन्द्र इति जात्यमणिर्वणिक्षु प्रागवन्वयवर्तत रसात् तरसा न दानात् ।
स्वस्वामिनापि च निषिद्धतथाप्रवृत्तिर्मन्दोऽपि नाम न महानवगृह्य साध्यः[1] ॥ ५१ ॥
तत्कारिताऽऽर्हतनवाकृतिसत्प्रतिष्ठां कृत्वा निधाय विबुधेन्द्रपदं स[१] वीरे ।
जेष्ठस्थितिद्वयविधेरनु कारकोऽभूदिच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम्[2] ॥ ५२ ॥
मार्गेऽथ साहिवचसा प्रभुमन्वितायां चम्वां तु सङ्घजनकारितभोजनेषु ।
यन्ता बलात् सुहितमाशयति स्म पिण्डं स्नेहच्युतिस्लपितबाहुरिभाधिराजम्[3] ॥ ५३ ॥
नत्वाऽन्तरिक्षजिनपार्श्वपदौ क्रमेण देवर्षिराज इह सङ्घघनाग्रहेण ।
वर्हानपूर्वनगरं शुचिमासि जाग्रन्नीलाभ्र[२]पङ्क्तिपरिवेषमिवाधिजग्मुः[4] ॥ ५४ ॥
देवे स्थितेऽनुभवनं नवनन्दिकृत्यदानार्हतार्चनतपःकरणोत्सवेषु ।
सज्जीकृतैर्निशि विपल्ययना अपीयुः संलक्ष्यपल्ययनवध्रपदास्तुरङ्गाः[5] ॥ ५५ ॥
पर्वस्वि[३]हार्हतविहारनवोपहारसङ्घच्छदङ्गधरजङ्गमतोत्तरङ्गः ।
प्रोच्चैर्महेषु सहसाऽभिवहंस्त्रिलोक्या रोमाञ्चतामिव जगाम रजः पृथिव्याः[6] ॥ ५६ ॥
राजन्यजन्यतदजन्यपरंपराभिः क्षुब्धो न सत्त्वजलधिर्जलधीरणाभिः[४] ।
प्राचीनदेवजनुषोऽनुगतेन सूरिः शेषेण तेजस इवोल्लसता रराज[7] ॥ ५७ ॥
मासानतीत्य चतुरोऽस्य पुनर्धरित्री[५]सङ्घाग्रहाज्जिगमिषोरथ तत्प्रयाणे ।
सञ्जग्मिवान् पथि सपल्ययनः शिवाय श्रीवृक्ष[६]की पुरुषकोन्नमिताग्रकायः[७][8] ॥ ५८ ॥
सूरेरनुव्रजनकृज्जनभक्तिकार्ये यः सङ्घनायकतया समयेऽभिषिक्तः ।
तस्मै हरिः क्षितिभृतापि ददे वपुष्मान् उच्चैःश्रवा जलनिधेरिव जातमात्रः[9] ॥ ५९ ॥
चाषोऽचलत् फलभुगस्य तदाऽपसव्यः[८] श्रव्याणि देव्यपि चकार रुतानि सव्या[९] ।
भव्यान्युवाच रुचिवल्गितहेषितेन मिश्रं दधद्दशनचर्बुरशब्दमश्वः[10] ॥ ६० ॥
याने गुरोरनुगमाभिगमैर्नृपाणां सङ्घस्य चानुचलने स्खलनेऽचलायाम् ।

---

१ ‘वीरे’ वीरविजयकवौ ।

२ ‘–अभ्र–’ “अभ्रं तु त्रिदिवे गगनेऽम्बुदे” इति अनेकार्थः [हैः० अने० सं० कां० २ श्लो० ३८२] अभ्रम् अभ्रकम् ।

३ ‘पर्वसु’ चतुर्दश्यादिषु ।

४ ‘जलधीरणाभिः’ जडधियां सागरपाक्षिकाणां वा ईरणाभिः ।

५ ‘–धरित्री–’ धरित्रीपदेन गूर्जरत्रादेशः ।

६ ‘श्रीवृक्ष–’ हृद्–वक्त्रावर्ती हयः श्रीवृक्षकी ।

७ ‘–पुरुषक–’ पुरुष एव पुरुषकः तेन उन्नतः ऊर्ध्वावस्थितः अग्रकायः यस्य सः ।

“पश्चिमेनाग्रपादेन भुवि स्थिलाऽग्रपादयोः ।
ऊर्ध्वप्रेरणया स्थानम्–अश्वानां पुरुषः स्मृतः” ॥

८ ‘अपसव्यः’ दक्षिणः ।

९ ‘सव्या’ वामा ।

---

1 मा० पं० स० श्लो० ४९ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

2 मा० पं० स० श्लो० ५० चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

3 मा० पं० स० श्लो० ५१ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन । माघे ‘स्नेहस्रुति’–इति भेदः ।

4 मा० पं० स० श्लो० ५२ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

5 मा० पं० स० श्लो० ५३ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन । माघे ‘–वर्ध्र–’ इति ।

6 मा० पं० स० श्लो० ५४ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

7 मा० पं० स० श्लो० ५५ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

8 मा० पं० स० श्लो० ५६ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।
श्रीवृक्षकी अश्वविशेषः । तल्लक्षणं च—
“वक्षोभवावर्तचतुष्टयं च कण्ठे भवेद् यस्य च रोचमानः ।
श्रीवृक्षकी नाम हयः स भर्तुः श्रीपुत्रपौत्रादिविवृद्धये स्यात्” ॥
इत्यादि सविस्तरं वर्णनं माघस्य मल्लिनाथीयवृत्तितोऽवबोद्धव्यम् ।

9 मा० पं० स० श्लो० ५७ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

10 मा० पं० स० श्लो० ५८ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन । माघे ‘दशनचर्बुरशब्द—’ इति भेदः ।

वैतालिका नृपसभे सुकृतस्य तस्य भोगावलीं कलगिरोऽवसरेषु पेठुः[1] ॥ ६९ ॥

सूरेर्विहारकरणादिति गूर्जरत्रा मोहाभ्यमित्रजिनशासनभूभृतोऽभूत् ।
मूर्तं सुकृत्यचरितैः परितो दुरन्ताऽलक्ष्मीविडम्बि शिबिरं शिवकीर्तनस्य[2] ॥ ७० ॥

अवन्त्या ऐन्द्व्या विमलसलिलैः पाद्यकृदगः
स विन्ध्यः पीताब्धिं मुनिवरमितं दक्षिणदिशः ।
विभोः स्फातिं मां त्वं नय विनयतोऽज्ञापयदिति
बलाक्रान्तः क्रीडद्द्विरदमथितोर्व्वीरुहरवैः[3] ॥ ७१ ॥

महो बिभ्रत् सौरं विबुधकलितो देवगुरुराट्
दधानोऽसौ चैन्द्रश्रियमिह सदा यद् विहरति ।
खरेवायं देशो नदति गिरिरित्युच्चकनको
बलाक्रान्तः क्रीडद्द्विरदमथितोर्व्वीरुहरवैः[4] ॥ ७२ ॥ [पाठान्तरम्]

॥ इति श्रीदेवानन्दे महाकाव्ये दिव्यप्रभपरनाम्नि ऐङ्काराङ्के माघसमस्यार्थे महोपाध्यायश्रीमेघविजयगणिविरचिते दक्षिणदिग्विजयनामा पञ्चमः सर्गः । श्रीः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः ।

॥ ॐ ऐँ ह्रीँ श्रीँ क्लीँ ह्रौँ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥ ऐँ नमः ॥

अथ रिरंसुममुं युगपद्गिरौ नृसुरयोरवधार्य जपक्रमे ।
कमपि धित्सुमवेत्य ससंभ्रमं निजपदे जपदेवतयाऽऽजगे[5] ॥ १ ॥

अथवा–

अथ गणेन्दुरितो दुरितोज्झितः प्रवरगन्धपुरेऽधृत धारणाम् ।

---

१ 'नृपसभे' नृपाणां सभा नृपसभम् तत्र ।

२ 'मोहाभ्यमि–' मोहजयोद्यतस्य जिनशासनराजस्य शिबिरं चमूनिवेशः गूर्जरत्रा बभूव ।

३ 'दुरन्ताऽल–' दुष्टः अन्तो यस्याः ईदृक् अलक्ष्मीः मिथ्यात्वम् तस्या विडम्बि निवारकम् ।

४ 'शिवकीर्तन–' शिवं निरुपद्रवं कीर्तनं स्तुतिर्यस्य तस्य ।

५ 'पाद्य–' पादार्थं पाद्यम् ।

६ 'बलाक्रान्तः' बलां महीम् आक्रान्तः व्याप्तः । "बलो हस्ती बलं सैन्ये बलं सत्त्वं बला औषधीः रत्नयोनिः बलो दैत्यो बला लक्ष्मीर्बला मही" इति अनेकार्थध्वनिमञ्जरी [श्लो० ७७ श्लोकाधि०]

७ 'सौरम्' सूरेः इदं सौरम् । पक्षे सूरस्य रवेः सुराणां वा इदम्–सौरम् ।

८ '–कनको' "कनको नागकेसरे धत्तूरे चम्पके काञ्चनार–किंशुकयोरपि" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० ११]

९ 'बलाक्रान्तः' "बलं रूपे स्थामनि स्थौल्य–सैन्ययोः ॥ बोले बलस्तु बलिनि काके दैत्ये हलायुधे" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ४८८–४८९]

१० 'अथ रिरंसुममुम्' अथ अमुं श्रीदेवसूरिं मनुष्य–देवयोः गिरौ वाण्यौ अवधार्य जपविधौ रिरंसुं रन्तुमनसम्, च पुनः कमपि नरं शिष्यम् निजपदे धित्सुं स्थापयितुकामम् अवेत्य ज्ञात्वा जपदेवतया आजगे आगतम् ।

११ 'निजपदे' "पदं विभक्त्यन्ते स्थाने शब्दे वाक्ये–अङ्क–वस्तुनि त्राणे पादे पादचिह्ने व्यवसाये उपदेशे च" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० २२५–२२६]

---

1 मा० पं० स० श्लो० ६७ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन । माघे 'भोगावलीः' ।

2 मा० पं० स० श्लो० ६८ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

3 मा० पं० स० श्लो० ६९ चतुर्थः पादः चतुर्थत्वेन ।

4 पूर्ववत् ।

5 मा० ष० स० श्लो० १ प्रथमः पादः प्रथमतया ।

क्वचन योजयितुं निजमुत्तमे भुवि पदं विपदन्तकृतं[१] सताम्[1] ॥ २ ॥
नवपला[२]शपलाशवनं पुरस्तरसा[३]लरसालय[४]नैर्हितम् ।
मुनिजपा[५]य जपा[६]यतमैक्ष्य स हृदि ननन्द न नन्दनतोऽधरम्[2] ॥ ३ ॥
जपरसात् प[७]रसात् त्रिदशोऽप्यगात् गतमलं तमलं च परीक्षितुम् ।
व्यधित साधितसालदलायुधः स सु[८]रभिं सुरभिं सुमनोभरैः[3] ॥ ४ ॥
विलुलितालकसंहतिरामृशन् निधुवनश्रमवारि मृगीदृशाम् ।
ह[९]रिरपीयत फुल्लनसा मृगैः प्रसवयन् सव[१०]यःककुभावलीम्[4] ॥ ५ ॥
विघटयन्नलिनावलिसम्पुटान् प्रकटयन् मदनानलमुद्भटम् ।
परिमलैर्मुनिराज[११]मनुन्मिलत्कुवलयं बलयन् मरुदाववौ[5] ॥ ६ ॥
तुलयति स्म विलोचनतारकामिह भुवः कुसुमाश्रयणेऽलिनी ।
मिथुनमप्यभवत् तदवेक्षणादनुन[१२]गं तु न गन्तुमिह क्षमम्[6] ॥ ७ ॥
कुसुमकेलिचि[१३]की रसिकः स्त्रिया प्रसवविक्रयिकां करुणाशयः ।
इति जगाद सुमानि जनेऽद्य दा म[१४]लिनि मालिनि? माऽधव[१५]योषिताम्[7] ॥ ८ ॥
स्फुटमिवोज्ज्वलकाञ्चनकान्तिभिर्वनमवेक्ष्य घनं नवचम्पकैः ।
प्रियमिहाऽरमयत् सुरते वधूः क[१६]पिहितं पि[१७]हितं कुसुमाम्बरैः[8] ॥ ९ ॥
तिलकपुष्परजोऽनुरजद् दिशो भृशमराजत राजतरोचिषा ।
भसितमप्रियदा[१८]हभवं वृषाक[१९]पिशितं पिशि[२०]तं मदनाग्निना[9] ॥ १० ॥

[इति ग्रन्थविस्तरभिया प्रथमपादसमस्यात उपरम्यते]

---

१ 'विपदन्त–' धारणाविशेषणम्–विपदन्तकृतं धारणाम् ।
२ '–पलाश–' पलाशाः–पत्राणि ।
३ '–रसालरसा–' रसालानाम्–आम्राणाम्, रसायां भूमौ ।
४ '–लयनै–' व्यापनैः–व्याप्त्या ।
५ '–जपाय' ऋषीणां जपाय योग्यम् ।
६ 'जपायत–' जपाभिः जातिभिः–जातिकुसुमैः आयतं विस्तीर्णम् ।
७ 'परसात्' परवशः ।
८ 'सुरभिम्' वसन्तऋतुम् ।
९ 'हरिः' वायुः ।
१० 'सवयः–' सपक्षिकां दिक्पङ्क्तिं पुष्पवतीं कुर्वन् ।
११ '–नुन्मिलत्' मुनिराजं च पुनः अनुन्मिलत् संकुचत् कुवलयम् । चकारोऽध्याहारात् बलवन्तं करोति बलयति शतृप्रत्यये बलयन् । पक्षे बलयन् नामयन्–ध्याने प्रह्वीकुर्वन् सूरिम् ।
१२ '–नगं' अनुनगं प्रतिवृक्षम् ।
१३ '–चिकी–' चिकीर्षति इति चिकीः ।
१४ 'मलिनि' किंभूते जने? मलिनि अर्थात् सशोके ।
१५ '–योषिताम्' हे मालिनि! अधवयोषितां पुष्पाणि अद्य मा दाः । "धवः पतिर्धवो भीरुर्वृक्षजातेर्धवो मतः" इति अनेकार्थध्वनिमञ्जरी [श्लो० १३५ अर्धश्लोकाधि०]
१६ 'कपिहितम्' वनवानरयोग्यम् ।
१७ 'पिहितम्' पुष्पवसनैराच्छादितम् ।
१८ '–दाह–' अप्रियाविरहभृतः ।
१९ '–कपिशितम्' वृषाकपिः शिवः तद्वत् सितम् ।
२० 'पिशितम्' "पिशत् अवयवे" तुदादिः । पिशितम्–विस्तारितम् ।

---

1 मा० ष० स० श्लो० १ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
2 मा० ष० स० श्लो० २ प्रथमः पादः प्रथमतया ।
3 मा० ष० स० श्लो० २ चतुर्थः पादः चतुर्थतया ।
4 मा० ष० स० श्लो० ३ प्रथमः प्रथमतया ।
5 मा० ष० स० श्लो० ३ चतुर्थः चतुर्थतया ।
6 मा० ष० स० श्लो० ४ प्रथमः प्रथमतया । माघे 'विलोचनतारकाः' इति पाठः ।
7 मा० ष० स० श्लो० ४ चतुर्थः चतुर्थतया । केवलं पदच्छेदभेदः ।
8 मा० ष० स० श्लो० ५ प्रथमः प्रथमतया ।
9 मा० ष० स० श्लो० ५ चतुर्थः चतुर्थतया ।

रविकरैर्नलिनी प्रविबोधिता सरसिजाऽऽस्यममी कथमापपुः ।
इह रुषा परुषा मधुपव्रजानुपरि ते परितेपुरतो भृशम्[1] ॥ ११ ॥
कमलकोमलकोशपदात् तदा कृतरवा तरवारिवदुल्वणा ।
स्मरनृपस्य हृताध्वगचेष्टितध्वनिरगा[१]न्निरगान्मधुपावलिः[2] ॥ १२ ॥
विविधवाग्विधया[२] सुधयाऽऽशुगा धृतरसा तरसा[३] प्रियसङ्गमे ।
तमनुकूलयति स्म हृदि स्मय[४]च्छिदुरयाऽदुरया[५]चितमङ्गना[3] ॥ १३ ॥
मृगदृशामपि नैव मुनीश्वराः शिखरिधीरतया[६] रतयाचनैः ।
सुषमया[७] सुरभेः सुरभेदके-श्वरजिताऽरजिता[८] वशमाययुः[4] ॥ १४ ॥
विभुरभून्न विचालयितुं सुरो जपरतेः परतेजसमीश्वरम् ।
व्यमुचदम्बुमुचां घटयोच्चकैरनृतया[९]ऽनृतया वनपादपः[१०][5] ॥ १५ ॥
जलधिमुच्छलितं च्छलितव्रतः स विरच्य पुरः सुर इत्यवक् ।
व्रज[११] विभोऽब्धितटे लहरी वहन्नवलते वलतेऽभिमुखं तव[6] ॥ १६ ॥
विरम दुश्चरणाचरणादतो भज नवप्रमदाः प्रमदालसाः ।
तव किमद्भुतरूपरवौ यथा मम न सौमनसौ[१२] मनसो मुदे[7] ॥ १७ ॥
सुर[१३] इति प्रभुमादिशति क्षणादथ सुशासनशासनदेवता ।
पुरत एव वपुर्लतया प्रिया वलिभया[१४]ऽऽलिभया[१५]दिव सस्वजे[8] ॥ १८ ॥

---

१ '-अगात्-' अगं वृक्षम् अतति इति अगात् [अग+अत्=अगात्]

२ '-वाग्विधया' किंभूतया सुधया? विविधवाक्प्रकारया ।

३ 'तरसा' शीघ्रम् ।

४ 'स्मय-' स्मयः अहंकारः तस्य छेदे समर्थया ।

५ '-अदुरया-' दुर् दुष्टा, आ लक्ष्मीः-दुरा न दुरा अदुरा तया चितं व्याप्तं तम्-अदुरया-चितम्—नायकम् । यद्वा न दुष्टः अयो भाग्यं यस्य तेन आचितं व्याप्तम्—अदुरयाचितम् [अ+दुर्+अय+आचित-]

६ '-रिधीरतया-' धिया बुद्ध्या रतं धीरतम्, शिखरिणि धीरतं यस्याः सा तया सुषमया ।

७ 'सुषमया' किंभूतया? सुरभेर्वसन्तस्य सुषमया शोभया, सुराणामपि भेदको जेता ईश्वरः तस्य जिता-जयकारिण्या ।

८ '-अरजिता' रजस्वन्तं करोति रजयति, णौ मत्वर्थलोपे क्तप्रत्यये रजिता न रजिता अरजिताः-अलिप्ताः । यद्वा 'न वशमाययुः' काकुः वशं प्राप्ताः तदा वसन्तशोभया अरम्-अत्यर्थं जिताः-अरजिताः ।

९ '-अनृतयाऽनृतया' अनृतया असत्यया विकुर्वितया, अनृतया अप्राप्तया [ऋत=प्राप्त । अन्-ऋत-अनृत]

१० 'वनपादपः' वनं जलं पातीति वनपो वरुणः, ततः अपः वारीणि व्यमुचत् अम्बुमुचां घटया ।

११ 'व्रज विभो!' हे विभो! अब्धितटे व्रज । किंभूते? वहन्नवलते, लहरी तव अभिमुखं वलते—तत्र रत्नसद्भावाल्लोभेन क्षुभ्यतु । यद्वा भयसंदीपनम्—अयं समुद्रः आयाति तटं याहि इति भावः ।

१२ 'सौमनसौ' यथा मम सौमनसौ देवसंबन्धिनौ रूप-रवौ मनसो मुदे भवतः तथा तव किं न मुदे?

१३ 'सुर' सुरे देवे प्रभुम् इति आदिशति सति शासनदेवता पुरत एव वपुर्लतया सस्वजे स्वशरीरेण आगत्य मिमीले—शरीरेण मिलिता साक्षाद् बभूव इत्यर्थः ।

१४ 'वलिभया' किंभूतया वपुर्लतया वलिभया त्रिवलीयुक्तया ।

१५ '-आलिभया-' आलिः अनर्थः तद्भयादिव एवं गुरुं विरुद्धवचनैर्निमन्त्रयन् अनर्थं सुरः प्राप्स्यति इति । "आलिः सख्यावलीसेत्वनर्थेषु" इति अनेकार्थः [हैं० अने० सं० कां० २ श्लो० ४६४]

---

1 मा० ष० स० श्लो० ६ चतुर्थः चतुर्थतया ।

2 मा० ष० स० श्लो० ७ चतुर्थः चतुर्थतया ।

3 मा० ष० स० श्लो० ८ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे-'चितमङ्गनाः' इति पाठः ।

4 मा० ष० स० श्लो० ९ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे-'स्वरजिता' इति भेदः ।

5 मा० ष० स० श्लो० १० चतुर्थः चतुर्थतया ।

6 मा० ष० स० श्लो० ११ चतुर्थः चतुर्थतया ।

7 मा० ष० स० श्लो० १२ चतुर्थः चतुर्थतया ।

8 मा० ष० स० श्लो० १३ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे——'अलिभया-' ।

सुरगिरेरपि धैर्यगुरुं गुरुं बत किमादिशसि भ्रमसम्भ्रमात् ।
रजति यो न हरेः प्रियया स किं कल[१]कलोऽलकलोल[२]दृशाऽन्यया[1] ॥ १९ ॥
अजगणद् गणशो न सुराङ्गनास्तरुणतारुणताभृदयं पुरा ।
जरसि पश्यति किं स मनोभुवा विधुरिता धु[३]रि ताः कुकुरे[४]स्त्रियः[2] ॥ २० ॥
इति निवार्य सुरार्यमणं दिवो मृगदृशाऽस्यै[५] जगे गुणसङ्गतिः ।
कलगिरा यदुपश्रुतिभिर्लैयात्[६] किमु मुहुर्मुमुहुर्गतभर्तृकाः[3] ॥ २१ ॥
अहिपतेरँ[७]वशाऽऽर वशा रसाज्जपनिलीनमना नमनाशया ।
परिजनस्य निवार्य धरागतावधिगमं धिगमङ्गलमश्रुणः[८][4] ॥ २२ ॥
श्रुतसुरी भुवनत्रितयेश्वरी श्रियमिति प्रवदन्त्यचिरादगात् ।
न समु[९]पैम्यधुनेत्युदिता शनैरवितथा वितथाः सखि ! मा गिरः[5] ॥ २३ ॥
अवगमर्त्यगणो गणवासवं जपं[१०]विधेयविधेयमिहादिश ।
विनयतो नयतोयधिरप्यतः स्वरमृतैरमृतैरिव निर्ववौ[6] ॥ २४ ॥
प्रभविता भविताऽयि पदे नु मे क इह पट्ट[११]भृदित्युदितेऽमुना ।
क्रतुभु[१२]जा तु भुजार्जितसद्यशोध्वनिभृता निभृता[१३]क्षरमुज्जगे[7] ॥ २५ ॥
जयति वीरपदाद् विजयः सुधीः समयि[१४]नामयि ! नाथ ! रविः स यः ।
समुनियोग[१५]नियोगतपःक्रमैरुदवहद् दवहव्य[१६]भुजः श्रियम्[8] ॥ २६ ॥
परमते रमते खलु यन्मतिः प्रवचने वचनेऽपि च यः पटुः ।

---

१ 'कलकलो–' कला मधुरा अजीर्णा कला यस्य सः ।

२ '–अलकलोल–' अलकैः पक्ष्मकेशैः लोले दृशौ यस्याः सा तया–मानुष्या न रजति हरेः प्रियया शच्या श्रिया वा ।

३ 'धुरि' धुरि इति प्रथमं पश्यत्यपि न तर्हि तद्भोगवार्ता का ?

४ 'कुकुरस्त्रि–' कु कुत्सितम् कुलं देहः विण्मूत्रमयत्वात् यासां ताः । "कुलं कुलगणे देहे गेहे जनपदेऽन्वये" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ४६९]

५ '–अस्य' प्रभोः ।

६ 'लैयात्' "लयस्तूर्यत्रयीसाम्ये संश्लेषण-विलासयोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ३७०] लक्षणया मूर्च्छया ।

७ 'अहिपतेः–' धरणेन्द्रस्य वशा स्त्री रसाद् अवशा शीघ्रम् आर प्राप ।

८ '–अश्रुणः' पृथिव्याम् आगमने विरहात् अश्रुणः अधिगमं परिजनस्य निवार्य अमङ्गलं धिग् इति ।

९ 'समुपैमि–' 'हे सखि ! अहं संप्रति न समुपैमि' इति शनैः उदिता गिरः अवितथाः सत्याः मा वितथाः कार्षीः—शीघ्रमेव आगच्छ इति ।

१० 'जप–' जपस्य विधेयो विनयः तस्य विधेयं कार्यं कथय । अतः देववाक्याद् नयपयोधिः निर्ववौ—निर्वृतिं सुखं प्राप स्वः स्वर्गस्य अयाचितैः अमृतैः अमृतैः पीयूषैरिव ।

११ 'पट्ट–' "पट्टश्चतुष्पथे पीठे राजादेः शासनान्तरे" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ९१]

१२ 'क्रतुभुजा' देवेन ।

१३ 'निभृताक्षर–' निर्णीतवर्णम् ।

१४ 'समयिना–' समयिनां सिद्धान्तविदाम् रविः । "समयः शपथे भाषा-संपदोः काल-संविदोः । सिद्धान्ताचारसंकेतनियमावसरेषु च" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० ५०२-५०३]

१५ '–योगनियोग–' मुनीनां योगा उपधानानि, नियोगः आज्ञा, तपश्च तेषां क्रमैः ।

१६ 'दवहव्य–' दवानलहव्यभुजः ।

---

1 मा० ष० स० श्लो० १४ चतुर्थः चतुर्थतया ।
2 मा० ष० स० श्लो० १५ चतुर्थः चतुर्थतया ।
3 मा० ष० स० श्लो० १६ चतुर्थः चतुर्थतया ।
4 मा० ष० स० श्लो० १७ चतुर्थः चतुर्थतया ।
5 मा० ष० स० श्लो० १८ चतुर्थः चतुर्थतया ।
6 मा० ष० स० श्लो० १९ चतुर्थः चतुर्थतया ।
7 मा० ष० स० श्लो० २० चतुर्थः चतुर्थतया ।
8 मा० ष० स० श्लो० २१ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे '–दवहव्यवहश्रियम्' इति भेदः ।

विरतिधीरतिधीर! विवक्ष्यति शुचिरसौ चिर[१]सौरभसम्पदः[1] ॥ २७ ॥
नवमतिर्वमति स्म न सद्रुचिं जनि[२]कृती नि[३]कृतीर्न दधावयम् ।
घनवशं न वसन्तदिने वने भ्रमदलौ मदलौल्यमुपाददे[2] ॥ २८ ॥
सपदि मूर्ध्नि सहैव सुधाभुजां कविविधोर्विविधोक्तिकृतामिति ।
सरसचन्दनरेणुरनुक्षणं विचकरे च करेण वरोरु[४]भिः[3] ॥ २९ ॥
अथ गतेषु सुरेषु जगद्गुरुं जपतपोमहसाऽर्कमिवोद्धुरम् ।
समभिवन्दितुमिभ्यततिः श्रुतस्वसमया समयाज्जग[५]तीधरम्[4] ॥ ३० ॥
अहमदा[६]णहिल्लकपत्तनाद् जनपदाज्जनताचलने नरः ।
सुहृदमन्वयितुं पितृवारणे न चकमे च क[७]मेकरसं रहः[5] ॥ ३१ ॥
रथग[८]तिः स्तनितानि वदान्यतां पथि जनो जगृहे प्रसरत्[९]कुथम् ।
द्विपगणस्य घनस्य धनुर्भृतः शबलिमा बलिमानमुषो वपुः[6] ॥ ३२ ॥
पथि रथेषु चलत्सु समीरणैः प्रकटिता पिहिता पटमण्डपैः ।
नववधूरभितः कि[१०]मु शारदैरचिररोचिररोचत वारिदैः[7] ॥ ३३ ॥
व्युप[११]रतं परतन्त्रविधेर्लयात् तमधिगम्य गुरुं जनता नता ।
पुरमपि स्थितये सदने क्षणैर्विधुरब[१२]न्धुरबन्धुर[१३]मैक्षत[8] ॥ ३४ ॥
सधनर[१४]त्नमुखव्यवहारिणामिह महाग्रहतो विहगेक्षणे ।
मुनिपतेरनुकूलतया ववौ जनमनो[१५]नमनो घनमा[१६]रुतः[9] ॥ ३५ ॥

---

१ 'चिरसौरभ-' हे अतिधीर! असौ सुधीः सूरीणां समूहः सौरम् तस्य भा यासु ताः भाश्च ताः संपदश्च विवक्ष्यति परिणेष्यति। चिरं सौरभसंपदः चिरसौरभसंपदः "विस्पष्टपटुः" इत्यादिवत् समासः।

२ 'जनिकृती' जनेर्जन्मनः कृती दक्षः।

३ 'निकृती-' मायाः। 'मदलौल्यम्' मदेन चापल्यम्-मनोविकारम्।

४ 'वरोरुभिः' सुधाभुजां देवानाम् वरोरुभिः स्त्रीभिः कविविधोः वीरस्य मूर्ध्नि सरसचन्दनरेणुः विचकरे विकीर्णः।

५ 'जगती-' जगती क्ष्मा तद्धारकम्।

६ 'अहमदा-' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् अहमदावाद-नगरात्।

७ 'कमेक' कम्-सुहृदम्-मित्रम् अन्वयितुम्-अनुयातुं न चकमे-न इयेष।

८ 'रथगतिः' रथगतिः घनस्य स्तनितानि जगृहे, जनः वदान्यतां दातृत्वं जगृहे। तदा घनस्य शबलिमा गजगणस्य वपुर्जगृहे। किंभूतस्य गजगणस्य? बलिमानमुषः।

९ 'प्रसरत्कुथम्' करिकम्बलयुक्तम्।

१० 'किमु' किमु वितर्के नववधूः अरोचत अथवा शारदैर्वारिदैः पिहिता विद्युत्।

११ 'व्युपरतम्' निवृत्तम्।

१२ '-विधुरबन्धुः-' जनता क्षणैः उत्सवैः विधुरबन्धुः व्याकुलस्वजना पुरमपि अबन्धुरं भीमम् ऐक्षत।

१३ '-अबन्धुरम्-' यद्वा अपाम् अन्धवः कूपाः तैः राजते-अबन्धुरम्। यद्वा "बन्धुरा पण्ययोषायाम्" [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० ५७५] इति वचनात् तद्रहितं सुशीलम्।

१४ '-धन-रत्न-' धनजीसहितरत्नमुख्यव्यवहारिणाम्।

१५ 'जनमनोनमनो-' जनमनः नमयति-प्रह्वयति-तत्परं करोति इति जनमनोनमनः।

१६ 'घन-' "घनो मन्दो घनं निरन्तरम्" इति मञ्जरी।

---

1 मा० ष० स० श्लो० २२ चतुर्थः चतुर्थतया।
2 मा० ष० स० श्लो० २३ चतुर्थः चतुर्थतया।
3 मा० ष० स० श्लो० २४ चतुर्थः चतुर्थतया।
4 मा० ष० स० श्लो० २५ चतुर्थः चतुर्थतया।
5 मा० ष० स० श्लो० २६ चतुर्थः चतुर्थतया।
6 मा० ष० स० श्लो० २७ चतुर्थः चतुर्थतया।
7 मा० ष० स० श्लो० २८ चतुर्थः चतुर्थतया।
8 मा० ष० स० श्लो० २९ चतुर्थः चतुर्थतया।
9 मा० ष० स० श्लो० ३० चतुर्थः चतुर्थतया।

चरमतीर्थकृतश्चरणाम्बुजप्रहितपत्त्रगिरामिव बोधनैः ।
नृपतिवाध्यततिर्न्यगदन्महाध्वनिजयान्[१]निजया स्वनसम्पदा[1] ॥ ३६ ॥
अथ स साहिबदेतनयोऽतनोत् पटुपटैर्नवमण्डपमुच्चकैः ।
इह रतिर्बहुमार्जनया नृणां नवनवा[२] वनवायुभिरादधे[2] ॥ ३७ ॥
शमिततापमपोढमहीरजः प्रथमबिन्दुभिरम्बुमुचो[३]ऽम्भसाम् ।
प्रविरलैरचलाङ्गणमङ्गनाजनसुगं[४] न सुगन्धि न चक्रिरे[3] ॥ ३८ ॥
प्रशमितं[५] रजसा शमितं जनैः प्रमुदितं सुदृशा[६]मुदितत्विषा ।
अजिरमम्बुरुहैर्मनुजाः सभा[७]-जनसुगं न सुगन्धि न चक्रिरे[4] ॥ ३९ ॥
सदखई[८]त्यभिधेयमहेभ्यभूरचितचारुदुकूलजनाश्रये ।
घनघनौघविघट्टनया[९] दिवमरतिसू[१०]रतिशून्यदशाऽऽश्रयत्[5] ॥ ४० ॥
निरुपमौक्तिक[११]मौक्तिकपङ्क्तिभृद्वरवितान[१२]वितानकभा[१३]जितम् ।
तदधुनापि भियैति दिवोऽम्बुधौ कृशशिखं शशिखण्डमिव च्युतम्[१४][6] ॥ ४१ ॥
सरसभुक्तिसुयुक्तविधौ दधौ स कलधौतमयीः पृथुपात्रिकाः ।
वसु[१५]हिताः सुहिताः पयसा जना विदधिरे दधिरे[१६]ऽणुविडम्बनाम्[7] ॥ ४२ ॥
सकलसङ्घविशां परिधापने तदधिवा[१७]सनया सनया[१८]गतैः ।

---

१ 'महाध्वनिजयान्' राजमार्गे जयारावान् ।

२ 'नवनवा' "प्रकारे गुणवचने च" इति द्विर्भावः । ("प्रकारे गुणवचनस्य"–८।१।१२ इति पाणिनीयसूत्रम्) कर्मधारयवद्भावात् विभक्तेर्लुक् ।

३ '–अम्बुमुचो–' अम्बुमुचः जलवाहका जनाः 'सिक्का' इति भाषाप्रसिद्धाः ।

४ 'अचलाङ्गणमङ्गना' अचलाङ्गणम् । अङ्गनाजनसुगं चक्रिरे । सुष्ठु गच्छति इति सुगः अङ्गनाजनः सुगो यत्र तत्–अङ्गनाजनसुगम् । अम्भसां प्रथमबिन्दुभिः न सुगन्धि इति न किन्तु सुगन्धि ।

५ 'प्रशमितम्' 'प्रशमितम्' इत्यत्र स्वार्थे ण्यन्तत्वम् ।

६ 'सुदृशा–' सुदृशां सम्यक्त्ववताम् स्त्रीणां वा उदितत्विषा प्रमुदितं विकसितम् ।

७ 'सभाजनसुगम्' "सभाजन प्रीति-सेवनयोः" दर्शनेऽपि चुरादिः ।

८ 'सदखई–' सन् सत्पुरुषः–अखईसुतः वर्धमाननामा ।

९ 'घनौघ–' घनस्य संघस्य घनौघेन भृत्येन वाद्यप्रकारेण वा विघट्टना संमर्दः तया नभः शून्यमिव जातम्–देवानाम् अत्र आगमनेन स्वर्गोऽपि शून्यः । "घनः सान्द्रे दृढे दार्ढ्ये विस्तारे मुद्गरेऽम्बुदे । संघे मुस्ते" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० २५८]

१० 'अरतिसू–' अरतिं सूते इति अरतिसूः । ईदृशी शून्यदशा दिवमाश्रयत् ।

११ 'निरुपमौक्तिक–' उपमाया औक्तिकानि वाक्प्रपञ्चरूपाणि तानि अतिक्रान्तानि ईदृशानि मौक्तिकानि ।

१२ '–वितानवितानक–' वितानाश्चन्द्रोदयाः तेषां वितानकं विस्तारः समूहो वा ।

१३ '–भाजितम्' कान्त्या जितम् ।

१४ 'च्युतम्' दिवः च्युतं शशिखण्डम् अधुना भिया अम्बुधौ एतीव यातीव–चन्द्रोदयानां भया कान्त्या जितं शशिखण्डं भिया भयेन समुद्रे यातीव ।

१५ 'वसुहिताः' वसूनां धनानां योग्याः । दुग्धेन भृताः दधिरेणुविडम्बनाः तिरस्क्रियाः ।

१६ यद्वा दधि राति दत्ते यस्तत्र दधिरे, अणुः अल्पा या विडम्बना ताम्–संप्रति दधि न ग्राह्यम् ।

१७ 'तदधिवासनया' गन्धमाल्यादिना यः संस्कारः सः–अधिवासना तया ।

१८ 'सनयागतैः' नयेन नीत्या आगतम्–आगमनं तत्सहितैः ।

---

1 मा० ष० स० श्लो० ३१ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे '–ध्वनिजया निजया' इति भेदः ।

2 मा० ष० स० श्लो० ३२ चतुर्थः चतुर्थतया ।

3 मा० ष० स० श्लो० ३३ चतुर्थः चतुर्थतया ।

4 मा० ष० स० श्लो० ३३ चतुर्थः चतुर्थतया ।

5 मा० ष० स० श्लो० ३४ तृतीयः पादः तृतीयतया । माघे 'दिवः' इति ।

6 मा० ष० स० श्लो० ३४ चतुर्थः चतुर्थतया ।

7 मा० ष० स० श्लो० ३५ चतुर्थः चतुर्थतया ।

प्रतिहतैकमलैः सितिमा[१]प्यहो शुभरजो भरजोऽलिभिराददे[1] ॥ ४३ ॥
निजरजः पटवासमिवाकिरत् तरुणतोरणनीरजधोरणिः ।
विबुधवीरशिरस्युदयप्र[२]भानियतिकाऽऽयतिकार्यनिवेदिनी[2] ॥ ४४ ॥
पुरमुदञ्चितकेतुकरां सखीं दिवमिवाऽऽह्वयितुं कृतसत्क्रियाम् ।
अमहयत् कुसुमैर्न किमुष्मणामनव[३]नी नवनीपवनावलिः[3] ॥ ४५ ॥
व्यरचि चित्रपटैरतिचित्रकृत् स चतुरैरभिषेचनमण्डपः ।
दृढविधेयधियोऽपि यमीक्षितुं ववलिरे वलिरेचितमध्यमाः[4] ॥ ४६ ॥
निधिवियन्नगभूमितवत्सरे [४]धवलमाधवदिक्तिथिवासरे ।
तदभिषेकमहेऽभिहिते जनैरननृ[५]ते ननृते नवपल्ल[६]वैः[5] ॥ ४७ ॥
विबुधवीरवराय निजं[७] पदं रसमये समये गुरवो ददुः ।
कलगिरा जगुरेणदृशां गणास्तमथ मन्मथमन्थरभा[८]षिणम्[6] ॥ ४८ ॥
विजयतः प्रभनामगुरोर्गिरा प्रविदधच्छरदामयुतं जयम् ।
त्वमिह नाथ! भुवं सुकृतैर्नृणामपरथाऽऽप र[९]थावयवायुधः[7] ॥ ४९ ॥
घुसृणचन्दनचूर्णविलेपनोत्सव[१०]शिरा वशिराट्[११] स नवः सभाम् ।
ध्रुवमबोधयदर्थिभृशाहृतक्ष[१२]मघनामघनाशन[१३]कीर्तनः[8] ॥ ५० ॥
जगति नैशमशीतकरः करैर्हसति सान्द्रतमस्सु स[१४]हायवान् ।
इति विनीतकवेर्वरवाचकपदमदादमदा[१५]ऽसुमतां गुरुः[9] ॥ ५१ ॥
विदलिता कमला कमलालयाऽमृतरुचा हृदयेन तमक्षिपत् ।

---

१ 'सितिमा–' अलिभिः अपि धवलता धृता तर्हि नृणां धवलत्वे किं चित्रम्? इति 'अपेः' भिन्नक्रमयोजितस्यार्थः ।

२ '–उदयप्रभा–' उदयस्य भाविसूरिपदस्य या प्रभा तस्या नियतिः निश्चयो यत्र ईदृक् आयतिकार्यम् तस्य ज्ञापिका ।

३ '–अनवनी' उष्मणां तापानाम् अनवनी अरक्षिका [अन्+अवनी]

४ 'निधि–' सं० १७०९ वर्षे वैशाखसितदशमीतिथौ ।

५ '–अननृते' न विद्यते अनृतम् अलीकं दूषणं यत्र ।

६ 'नवपल्लवैः' पल्लवोऽत्र विस्तरः । "पल्लवः किशले बले । विटपे विस्तरे" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० ६९८] यद्वा पल्लवैः गीतपदलेशैः ।

७ 'निजम्' "निजमात्मीय–नित्ययोः" इति वैजयन्ती ।

८ 'मन्मथ–' मन्मथस्य मन्थं भङ्गं राति दत्ते–मन्मथमन्थरम्–ईदृग् भाषते इत्येवंशीलम् ।

९ 'रथावयवा–' अपरथा प्रकारान्तरेण रथावयवः चक्रम् तदायुधः चक्री कृष्णो वा भुवम् आप प्राप ।

१० 'उत्सवशिरा' उत्सवः अत्र इच्छाप्रसरः । "उत्सवोऽमर्षे महे इच्छाप्रसर उत्सुके" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० ६८९]

११ 'वशिराट्' सूरिः ।

१२ 'अर्थिभृशा–' अर्थिभिः भृशम् आहृतानि–गन्धर्वैर्वादितानि क्षमाणि तालादीनि घनानि यस्यां सा ताम्–अर्थिभृशाहृतक्षमघनां सभाम् ।

१३ '–अघना–' पापनाशनस्तवनः ।

१४ 'सहाय–' ग्रहतारकादिसहायसहितः ।

१५ '–अमदासु–' मदरहितप्राणिनां पूज्यः ।

---

1 मा० ष० स० श्लो० ३६ चतुर्थः चतुर्थतया। माघे–'राददे'।

2 मा० ष० सं० श्लो० ३७ प्रथमः प्रथमतया ।

3 मा० ष० स० श्लो० ३७ चतुर्थः चतुर्थतया ।

4 मा० ष० स० श्लो० ३८ चतुर्थः चतुर्थतया ।

5 मा० ष० स० श्लो० ३९ चतुर्थः चतुर्थतया ।

6 मा० ष० स० श्लो० ४० चतुर्थः चतुर्थतया । माघे '–भाषिणः' इति ।

7 मा० ष० स० श्लो० ४१ चतुर्थः चतुर्थतया ।

8 मा० ष० स० श्लो० ४२ चतुर्थः चतुर्थतया ।

9 मा० ष० स० श्लो० ४३ प्रथमः प्रथमतया ।

सपदि सौ[१]रमहो वद नाम्बुजं न महताम[२]हताः क्वचनाऽरयः[1] ॥ ५२ ॥
धनवतां नवताण्डवकारिणां ध्वनिलयान्निलया मुरजावलेः ।
जल[३]धरभ्रमनृत्यकृतक्रमस्वरमयूरमयू[४] रमणीयताम्[2] ॥ ५३ ॥
अनुपदं नु पदं सुगुरौ श्रिते परविभा रविभासुरभूषणैः ।
असिचयैः सिचयैरिव मान्मथैः रुरुचिरे रुचिरे[५]क्षणविभ्रमाः[3] ॥ ५४ ॥
अनवमं नवमङ्गलमाश्रिते स्वजनभोजनभोगरसार्पणे ।
सम[६]धुरा मधुरा निदधे सुधानिर[७]सनै रसनैरन्वर्थार्थता[4] ॥ ५५ ॥
जगति सद्गुरुकीर्तिभिरुज्ज्वले न रुचिता रुचिता किल मौक्तिकी ।
तदरतेरिव हृद्विवरं दधौ परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसहः[5] ॥ ५६ ॥
उपवनात् पवनाश्च ववुः शुभाः सु[१०]षमया स्वमयाद् विशदप्रभाम् ।
भृशमये ! समयेऽत्र रसाश्रये न कमलं कमलम्भयदम्भसि[6] ॥ ५७ ॥
चरमतीर्थ[११]कृतोऽजनि नामभृत् तदपराह्वयसूरिपदोत्सवे ।
श्रु[१२]ततदीरितकोमलगीतकः सम[१३]नृणामनृणामतनोद् दृशाम्[7] ॥ ५८ ॥
भवनमेव न मे गुरुरेतु किं वरव[१४]धूरवधूततयेतिगीः ।
उपगतेऽस्य रुचिं निपपौ घन[१५]ध्वनिमिषेऽनिमिषे[१६]क्षणमग्रतः[8] ॥ ५९ ॥
इति यतिक्षितिपालपदोत्सवे वसुकृतैः सुकृतैर्जनितं यशः ।
कुलगिरौ जगुरुन्मददेवताः सततगास्ततगानगिरोऽलिभि[१७]ः[9] ॥ ६० ॥
निजपदे स्वविनेयनिवेशनादनुययावथ सूरतिबन्दिरे ।

---

१ 'सौरम्–' सूरेः इदं सौरम् । पक्षे प्रभाते सूर्यतेजः चन्द्रम् अक्षिपत् । 'हे जन !' इति अध्याहारात् त्वं वद ।

२ 'महताम्' महताम् अरयः क्वचन अहता न ।

३ 'जलधर–' जलधरस्य भ्रमेण नृत्ये कृतो यः क्रमेण स्वरो यैस्तादृशा मयूरा यत्र तत् ।

४ '–अयुः' अयुः प्रापुः रम्यताम्–रमणीयताम् ।

५ 'रुचिरेक्षण–' स्त्रियः ।

६ 'समधुरा' तुल्यविभागेन मधुरा रुचिरा ।

७ 'सुधानि–' सुधाया निरसनं पराकरणं येभ्यस्तैः । 'रसनै–' "रसनं ध्वनिते स्वादे" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० ३९४]

८ '–अन्वर्थार्थता' यथार्थता अशनैर्भोजनैर्निदधे ।

९ 'मौक्तिकी' मौक्तिकी रुचिता कान्तिभावः न शोभिता । अत एव अरतेः दुःखात् हृद्विवरं छिद्रं धत्ते स्म ।

१० 'सुषमया' शोभया ।

११ 'चरमतीर्थ–' चरमार्हन्नाम जन्मनि वर्धमान-नाम इत्यर्थः तस्यैव जिनस्य अपरनाम 'वीर' इति, तन्नाम्नः सूरिपदोत्सवे ।

१२ 'श्रुत–' श्रुतानि तस्य सूरेः ईरितानि उक्तानि गीतानि येन सः ।

१३ 'समनृणाम्' सर्वनराणाम् 'अनृणाम्' ऋणरहिताम् ।

१४ 'वरवधू–' किंभूता वरवधूः ? इतिगीः इतीति किम् ? किं गुरुर्मे भवनं न एतु ।

१५ 'घनध्वनि–' घनानां ध्वनिस्पर्धने उपगते प्रत्यासन्ने अस्य गुरोः कान्तिं निपपौ सादरं ददर्श । "मिषं व्याजे स्पर्धने च" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ५५५]

१६ 'अनिमिषे–' न निमिषति इति अनिमिषम् ईदृक् ईक्षणं यत्र कर्मणि ।

१७ 'अलिभिः' अलिभिः अम्भोरसैः ततगानगिरः देवताः । "अलिः सुरापुष्पलिहोरम्भोरसेऽम्लवेतसे" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ४६३] अलिभिरिव इति लुप्तोपमा ।

---

1 मा० ष० स० श्लो० ४३ चतुर्थः चतुर्थतया ।

2 मा० ष० स० श्लो० ४४ चतुर्थः चतुर्थतया ।

3 मा० ष० स० श्लो० ४६ चतुर्थः चतुर्थतया ।

4 मा० ष० स० श्लो० ४७ चतुर्थः चतुर्थतया ।

5 मा० ष० स० श्लो० ४५ चतुर्थः चतुर्थतया ।

6 मा० ष० स० श्लो० ४८ चतुर्थः चतुर्थतया ।

7 मा० ष० स० श्लो० ४९ तृतीयः तृतीयतया । माघे 'गीतक' इति विसर्गविहीनम् ।

8 मा० ष० स० श्लो० ४९ चतुर्थः चतुर्थतया ।

9 मा० ष० स० श्लो० ५० चतुर्थः चतुर्थतया ।

यतिपतिः प्रविभाव्य ऋतौ पुरःशरदि नीरदिनीर्यदवो दिशः[1] ॥ ६१ ॥
शुचिरयादिनमप्यधितापयन् प्रथमतोऽथ मतो न घनाद् भुवः ।
इह वनी रतयेऽस्य शिरीषजां हरिवधूरिव धूलिमुदक्षिपत्[2] ॥ ६२ ॥
स्मितमिव स्फुटयन्नवमल्लिकां शुचिरयं चिरयन् दिवसानभात् ।
तदभिनन्दनमाशु रजःकणैर्दिवि तता वितताना शुकावलिः[3] ॥ ६३ ॥
प्रकृतपुष्करहंसचिरस्थितिः कृशरसां सरसां प्रणयन् भुवम् ।
तुलयति स्म यतिस्मयभेदनः स शरदं शरदन्तुरदिग्मुखाम्[4] ॥ ६४ ॥ [ग्रीष्मः]
नभसि साम्भसि सान्द्रघनाघने सहरिता हरितापहृति क्षितिः ।
भरमपारमपाऽध्वधरस्पृशामतनुताऽतनुतापकृतं दृशोः[5] ॥ ६५ ॥
वरतनो रतनोदकलागुरुर्घनवनीनवनीपकरः कथम् ।
मृदुतरो दुतरोरघनानिलः सतुहिनस्तु हिनस्तु वियोगिनः[6] ॥ ६६ ॥
स्वनवतो नवतोयधराद् वधूर्नसहसा सहसा तडितां प्रियम् ।
भृशमनाशमनाः स्वयमाश्रयत् न सहसा सहसा कृतवेपथुः[7] ॥ ६७ ॥ [इति वर्षाः]
शरदभाद् रदभासिहसश्रिया धवलया वलयायितपङ्कजैः ।
धृतरुचा तरुचारुसुपल्लवैर्मृदुतया दुतयाधरलेखया[8] ॥ ६८ ॥
रतरसात् तरसाऽत्र निरंशुकाद्यिता दयिता दयिताग्रहात् ।

---

१ 'पुरःशरदि' पुरः–अग्रे शरद् यस्य तत्र–वर्षाकाले ।
२ 'नीरदिनी–' मेघवतीः ।
३ 'यदवो' 'यत्' इति अव्ययम् । अवति रक्षति अवः–रक्षकः पचाद्यचि रूपम् ।
४ 'शुचि–' शुचिः आषाढः अयात्–प्रापत् ।
५ 'घनाद्' घनात् प्रथमतः पूर्वम् इनं सूर्यम् स्वामिनं वा तापयन् ।
६ 'हरिवधूः–' हरेः सूर्यस्य वधूरिव वनी वनसमूहः अस्य इनस्य रतये सुखाय शिरीषजां शीतलां कोमलां धूलिं चिक्षेप ।
७ 'चिरयन्' चिरं कुर्वन् ।
८ 'तदभिनन्दन' तस्य आषाढस्य अभिनन्दनं वर्धापनम् ।
९ 'शुका–' शिरीषपुष्पराजिः । "शुकं ग्रन्थिपर्णेऽरलु–शिरीषपुष्पयोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० १९]
१० 'पुष्कर–' गगने । '–हंस–' सूर्यः । पक्षे पुष्करं कमलम्, हंसः मरालः । प्रकृता पुष्करे गगने हंसेन सूर्येण चिरस्थितिर्यत्र ।
११ 'कृशरसाम्' शुष्काम् । पक्षे तिलान्नस्य सा लक्ष्मीर्यस्यां सा ताम् । "तुल्यौ तिलान्ने कृसरत्रिसरौ" इति हैमः । [हैम–अभिधानचिन्तामणौ कां० ३ श्लो० ६२]
१२ 'स–' आषाढः शरदं शरद्दतुं तुलयति स्म ।
१३ 'सहरिता' सतृणा ।
१४ 'हरिता–' हरिः सूर्यः तस्य तापहृति मेघे ।
१५ 'अपाध्वधरस्पृशाम्' विरहिणीनाम् । 'अतनु–' स्मरः । अतनुत इति क्रिया ।
१६ 'दुतरोर–' दुता उपतप्ताः रोराः दरिद्राः यस्मात् सः । "दुदु उपतापे धातुः"–स्वादिः ।
१७ 'नसहसा' हसेन हास्येन सह सहसा–न सहसा नसहसा शोकयुक्ता । नञ्प्रतिरूपेण 'न' इति अव्ययेन समासः ।
१८ 'भृशमनाश–' भृशम् अनाशम्–आशारहितं मनो यस्याः सा ।
१९ '–आश्रयत्' सा स्त्री तडितां सहसा बलेन 'कृतवेपथुः' कृतकम्पा स्वयमेव प्रियमाश्रयत् न तु बलेन । सहसा शीघ्रं वा ।
२० 'दुतया–' प्राप्तया । "दुं गतौ धातुः"–भ्वादिः ।
२१ '–अयिता' अयिता निर्गता । "अय गतौ धातुः" ।

---

1 मा० ष० स० श्लो० ५१ चतुर्थः चतुर्थतया ।
2 मा० ष० स० श्लो० ५२ चतुर्थः चतुर्थतया ।
3 मा० ष० स० श्लो० ५३ चतुर्थः चतुर्थतया ।
4 मा० ष० स० श्लो० ५४ चतुर्थः चतुर्थतया ।
5 मा० ष० स० श्लो० ५५ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'दृशाम्' इति ।
6 मा० ष० स० श्लो० ५६ चतुर्थः चतुर्थतया ।
7 मा० ष० स० श्लो० ५७ चतुर्थः चतुर्थतया ।
8 मा० ष० स० श्लो० ५९ चतुर्थः चतुर्थतया ।

ह्रियमिता यमिता[१]ऽपि पयोमुचा निवसितेन[२] सितेन सुनिर्ववौ[1] ॥ ६९ ॥
नवसुधा[३] वसुधाभरणं विधोः कलम[४]जालमजातरसक्षयम् ।
सिततमाः[५] ततमान[६]भृता प्रियं वनितयाऽनितया[७] न विषेहिरे[2] ॥ ७० ॥ [इति शरत्]
कमलिनीमलिनीकरणे सहे[८] कुसुमितासु मितासु वनीष्वपि ।
सुकरणैः[९]करणैः स्म रसं श्रियः स्मरमयं रमयन्ति विलासिनः[१०][3] ॥ ७१ ॥
सरलतारलताः परिकम्पयन् मदनवेदनवेगवतीर्व्यधात् ।
हिमहता महता तरसा प्रियैर्वियुवतीर्[११]युवतीः शिशिरोऽनिलः[4] ॥ ७२ ॥
बलवतो लवतोऽपि महः क्षयं नयति संयति[१२] संगमनं जने ।
रविरतोऽविरतो[१३] जडसन्निधौ न हि महाहिमहानिकरोऽभवत्[5] ॥ ७३ ॥ [इति हेमन्तः]
नरमणे ! रमणे तपसि[१४] स्त्रिया सह स ना हसनाय समीरितः ।
अरुणभो[१५]ऽरुणभोग्य[१६]रजश्चयो द्युतिरियं[१७] तिरयन्नुदभूद् दिशः[6] ॥ ७४ ॥
मदमिते[१८] दमिते स्वगुणैर्मयि त्यज रसाज्जरसा न बिभेषि किम् ? ।
वचनयाचनया निशि भेजिरे घनमतो नमतोऽनुमतान्[१९] प्रियाः[7] ॥ ७५ ॥
निजगदुः कुसुमेन वशीकृताः स्मरनृपस्य जयं दलता[२०]लिनः ।
रतिकराः स्वरुतैरनुकात्मनां[२१] सपदि कुन्दलता[२२]दलतालिनः[8] ॥ ७६ ॥
प्रवदतः स्वसुमेन दधौ भृशं वरयशांसि तपोद[२३]लताऽलिनः ।

---

१ 'यमिता–' बद्धा मेघेन वृष्ट्या च बद्धाऽपि ।

२ 'निवसितेन' अभ्रैर्निवसितेन इव सुनिर्ववौ–सुखं प्राप । 'इव' अव्ययाभावे लुप्तोपमा ।

३ 'नवसुधा' विधोश्चन्द्रस्य नवा या सुधा तया भुवो भरणम् । 'नवसुधा' इति भिन्नं पदम् । बहुवचनान्तम् ।

४ 'कलम–' कलमक्षेत्रम् ।

५ 'सिततमाः' विधोर्नवसुधाः सिततमाः शुभ्राः, पुनः किम् ? वसुधाभरणम् ।

६ 'ततमान–' विस्तीर्णमानवत्या ।

७ प्रियम् अनितया अप्राप्तया वनितया एतानि वस्तूनि न विषेहिरे ।

८ 'सहे' सहः मार्गशीर्षमासः ।

९ 'सुकरणै–' सु–सुष्ठु, करणानि कामासनानि तद्रूपाद्वैतयुद्धैः ।

१० 'विलासिनः' रसिकान् रमयन्ति स्म । रसं स्मरमयम् । द्वैकर्म्यम् ।

११ '–वियुवतीः' प्रियैर्वियुक्ताः युवतीः ।

१२ 'संयति' युद्धे ।

१३ '–अविरतो–' अविरतः । विशेषेण रतो वा ।

१४ 'तपसि' माघे । "तपाः शिशिर–माघयोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ५६७]

१५ 'अरुणभो–' रक्तकान्तिः ।

१६ 'अरुणभोग्य–' "अरुणोऽर्केऽनूरु–पिङ्गयोः । संध्यारागे बुधे कुष्टे निःशब्दाऽव्यक्तरागयोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० १८१]

१७ 'द्युतिरयम्' करवेगम् चकाराध्याहारात् दिशः तिरयन् ।

१८ 'मदमिते' इते प्राप्ते मयि मदं त्यज ।

१९ 'अनुमतान्' प्रियान् प्रियाः नार्यः ।

२० 'दलता' विकस्वरेण । अलिनः भृङ्गाः ।

२१ '–अनुकात्मनाम्' कामिनाम् ।

२२ 'कुन्दलता–' कुन्दलतायाः दले तालिनः कराऽऽस्फोटकृतः ।

२३ 'तपोद–' तपोदलतालिनः तपाः शिशिरः स एव दलं हस्त्यादिसाधनम् तद्भावः तेन अलति शोभते ईदृक् राजा, तस्य वरयशांसि प्रवदतः । "अली भूषण–पूर्णता–निषेधेषु धातुर्भ्वादिः"

---

1 मा० ष० स० श्लो० ५८ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'निवसितेव' इति भेदः ।

2 मा० ष० स० श्लो० ६० चतुर्थः चतुर्थतया ।

3 मा० ष० स० श्लो० ६१ चतुर्थः चतुर्थतया ।

4 मा० ष० स० श्लो० ६२ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'शिशिरानिलः' ।

5 मा० ष० स० श्लो० ६३ चतुर्थः चतुर्थतया । अकाराप्रश्लेषे विरतः ।

6 मा० ष० स० श्लो० ६४ चतुर्थः चतुर्थतया ।

7 मा० ष० स० श्लो० ६५ चतुर्थः चतुर्थतया ।

8 मा० ष० स० श्लो० ६६ चतुर्थः चतुर्थतया ।

नवमृदङ्ग[१]धिया दलतालिनः समधुकुन्द[२]लता दलताऽलिनः[1] ॥ ७७ ॥ [इति शिशिरः]

अथ वसन्तः—

[३]दधुरधिकरुषं स्त्रियो न रागं मतनुतरतये वसं ता न कः ।
नवसुरभिसुमस्रजाऽन्यथैवमतनुत रत[४]येव सन्तान[५]कः[2] ॥ ७८ ॥ [प्र[६]भावृत्तम्]
कोपना[७]ऽपि न पिकध्वनिमारादक्षमिष्ट मधुवासरसारम् ।
रन्तुमैहत वरेण निपीय दक्षमिष्टमधु वासर[८]साऽरम्[3] ॥ ७९ ॥ [स्वागता]
प्रस्थातुकामेऽथ पुरी मुनीनां[९] प्रभावनीकेत[१०]नवैजय[११]न्तीः ।
सार्थागमं बोधयितुं नु तेने प्र[१२]भावनी केतनवैजयन्तीः[4] ॥ ८० ॥ [उपजातिवृत्तम्]
तनु[१३]मन्वधिपं रजो यियासोः परितस्तार रवेरसत्यवश्यम् ।
त्वरया जनसन्ततेः खरा[१४]द्ये परितस्ताररवे रसत्यवश्यम्[5] ॥ ८१ ॥
शुचि[१५]र्घ[८]र्मणि वारिकणैर्विलसद्रुचिरं कमनीयत रागमिता[१६] ।
पथि तज्जनतासु पयोजमुखी रुचिरं कमनीयत[१७]रागमिता[6] ॥ ८२ ॥ [तोटकम्]
नगरेऽहमदाह्वये यतीन्द्राः सहसाऽयन्त नदीपप[१८]टलाभे ।
गुरुसङ्गमजैः क्षणैर्जनैस्तैः सह सायन्तन[१९]दीपपाटलाभे[7] ॥ ८३ ॥ [औपच्छन्दसिकम्]

---

१ 'नवमृद–' नवमृदङ्गबुद्ध्या 'दलतालिनः' दले तालिनः तालक्रियासाम्यवन्तः । अथवा दलेषु तलन्ति प्रतिष्ठन्ते इति दलतालिनः । "तल प्रतिष्ठायां धातुः" । "दलम् अर्धम्, दलं पर्णम्, दलं हस्त्यादिसाधनम्" इति मञ्जरी [श्लो० १४० अर्धश्लोकाधि०] "तालः कालक्रियामाने हस्तमान–द्रुमभेदयोः ॥ करास्फोटे करतले च" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ४७९–४८०]

२ 'समधुकुन्दलता' अलिनः भ्रमरान् दधौ पुपोष, केन? स्वसुमेन कुसुमेन दलता विकस्वरेण ।

३ 'दधुर–' याः स्त्रियः अधिकरुषं दधुः, न रागं मतनुतरतये दधुः ताः स्त्रियः वशं कः न अतनुत, कया नवसुरभिपुष्पलतया । क इव? संतानक इव लतया स्त्रियः वशं करोति ।

४ 'रतया' लतया हारेण कस्तूर्या वा "लता कस्तूरी" अनेकार्थे [है० अने० सं० कां० २ श्लो० १८८–१८९]

५ 'संतानकः' कल्पवृक्षः ।

६ 'प्रभा–' "वसुयुगविरतिर्नभौ रौ प्रभा" ।

७ 'कोपना–' कोपनाऽपि स्त्री पिकध्वनिं न सेहे । वसन्तदिने श्रेष्ठम् इष्टमधु निपीय दक्षं यथा स्यात् तथा रन्तुम् अरम् अत्यर्थम् ऐहत ।

८ 'वासरसा' वासे वासगृहे रसो यस्याः सा ।

९ 'मुनीनाम्' मुनीनां प्रभौ प्रस्थातुकामे पुरी केतनेषु गृहेषु पताकाः तेने ।

१० '–अनीकेतनवा–' अनीकेन सेनाया इतः अवाप्तः नवः स्तुतिर्यया सा ।

११ 'एजयन्तीः' चलन्तीः पताकाः ।

१२ 'प्रभावनी' प्रभायाः अवनी प्रभावनी–कान्तेर्भूः–स्थानम् ।

१३ 'तनु–' अधिपम् अनुयियासोर्जनसंततेः रजः रवेः तनुं परितस्तार असतीवत् अवश्यं सर्वतः परिसर्पत् ।

१४ 'खराद्ये' खरः तित्तिरः तदादौ रसति शब्दं कुर्वाणे । "तित्तिरः खरकोषे गर्दभो वा"

१५ 'शुचि–' आषाढतापे ।

१६ 'रागमिता' मार्गे रागं लोहितिमानम् इता प्राप्ता । "इण् गतौ–" अदादिः ।

१७ 'कमनीय–' कमनीयतरं बहुश्रेष्ठम्, अगं तरुम्, इता । "इं गतौ" भ्वादिः ।

१८ 'नदीप–' नदीपः समुद्रः तस्य पाटो विस्तारः तस्य लाभो यत्र–समुद्रवद्विस्तृते ।

१९ 'सायंतन–' संध्याभवदीपवत् पाटला श्वेतरक्ता आभा यत्र ।

---

1 मा० ष० स० श्लो० ६६ चतुर्थः चतुर्थतया ।

2 मा० ष० स० श्लो० ६७ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

3 मा० ष० स० श्लो० ६८ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

4 मा० ष० स० श्लो० ६९ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

5 मा० ष० स० श्लो० ७० द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

6 मा० ष० स० श्लो० ७१ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

7 मा० ष० स० श्लो० ७२ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

इह वीक्ष्य देवमुदितं रसभासा[१]ऽसमयाऽवनौ घनमदभ्रमराणि[२] ।
शिखिभिर्जनस्य[३] सुमनांसि ननन्दुः समयाऽऽवनौघ[४]नमदभ्रमराणि[1] ॥ ८४ ॥
[कुटिलकवृत्तम्]

नात्रेतिरासीदुदये मुनीन्दोः समुद्धृताशङ्क[५]मनीचकाशे[६] ।
महैर्महद्भिर्वसुधा सुधान्यैः समुद् धृताशं कमनी[७] चकाशे[2] ॥ ८५ ॥
सुधयेव[८] सुसाधिताऽथवा किमभिनद् धारसमा[९] न सा रसेन ।
गुरुगीर्न[१०] नृणां द्विधाऽपि तापमभिनद्धा रसमानसारसेन[११][3] ॥ ८६ ॥ [औपच्छन्दसिकम्]
रेमे नुन्ना या[१२] मधुमत्ता बहुरङ्गैः कामे[१३] कान्ते सारसिका[१४]काकुरुतेन ।
दृष्टे देवे ब्रह्मणि भोगात् स्म निवृत्तिं कामेकान्ते[१५] सा रसिका का कुरुते न[१६][4] ॥ ८७ ॥
[मत्तमयूरवृत्तम्]

स्पष्टीकृते पटुनटेन[१७] चमत्कृतेन्द्रकेशे रते स्मरसहाः सवतोषितेन[१८] ।
स्त्रैणेन[१९] चात्र निशि जागरणेषु रागे के शेरते स्म रसहासवतोषितेन[5] ॥ ८८ ॥
[वसन्ततिलका]

---

१ 'रसभासा' वीर्यकान्त्या । 'असमया' अतुल्यया । 'अवनौ' भूमौ ।

२ 'घन–' घनं निबिडम्, अदभ्रं बहुलम्, 'अराणि' क्रिया ।

३ 'शिखिभिः' शिखिभिः श्रावकैः अराणि जयजयारवश्चक्रे ।

४ 'अवनौघ–' समया समीपे अवनस्य रक्षणस्य ओघे प्रवाहे नमन्ति प्रह्वीभवन्ति च तानि–अभ्रमेण तत्त्ववार्तया राजन्ते इति–अभ्रमराणि विशेषणेन "नाम नाम्ना" [३–१–१८ हैम०] इति समासः ।

५ 'समुद्धृता–' समुद्धृता दूरीकृता आशङ्का भयं संकोचो वा यत्र कर्मणि ।

६ 'अनीच–' न विद्यते नीचः वातनहनः ? काशो रोगो यत्र तस्मिन् अनीचकाशे ।

७ 'समुद् धृताशं कमनी' उत्सवैः समुत् सप्रमोदा । धान्यैः धृताशम् उद्धृतदिक् यथा स्यात् तथा । 'कमनी' अभिरूपा । 'वसुधा' भूः । 'चकाशे' दिदीपे ।

८ 'सुधया' अमृतेन ।

९ 'धारसमा' मेघतुल्या । धारो जलधरः "धारो मेघः" अनेकार्थे [हैम० अने० सं० कां० २ श्लो० ४२१]

१० 'गुरुगीः' सा प्रसिद्धा गुरुगीः द्विधाऽपि नृणां तापं न न अभिनत् काकुः । गुरुगीः सुधया साधिता इव ।

११ 'किम–' किमिति विकल्पे सारसेन चन्द्रेण अभिनद्धा व्याप्ता । किंभूतेन ? रसे शृङ्गारादौ मानं बहुमानं यस्य तेन समासात् 'रसमानसारसेन' । "सारसः चन्द्रः" इति अनेकार्थे [हैम० अने० सं० कां० ३ श्लो० १५४]

१२ 'या' या स्त्री सारसिकानां 'सारू' इति प्रसिद्धानां सारसपक्षिकान्तानाम् यद्वा कामिनां काकुरुतेन वक्रोक्तिवचसा ।

१३ 'कामे' स्मररूपे कान्ते रेमे ।

१४ 'सारसिका–' "सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः" इति यादवः ।

१५ 'कामेका–' सा नारी कां भोगनिवृत्तिं न कुरुते स्म । 'एकान्ते' एकान्ते केवलस्वरूपे देवे साक्षाद् ब्रह्मणि दृष्टे कां निवृत्तिं नाऽकार्षीत् ।

१६ "एकः केवलः । अन्तः स्वरूपम्" इति अनेकार्थे [हैम० अने० सं० कां० २ श्लो० २ तथा १५५]

१७ 'पटुनटेन' पटुनटेन रते रमणे, किंभूते रते ? 'चमत्कृतेन्द्रकेशे' चमत्कृतेन्द्रवरुणे । "केशः वरुणः" अनेकार्थे [हैम० अने० सं० कां० २ श्लो० ५३३]

१८ "षुंगट् अभिषवे" "अभिषवः कण्डनं पीडनं मज्जनं स्नानमपि" [हैम० अने० सं० कां० ४ श्लो० ३०३] तेन तोषितेन–'सवतोषितेन' । स्वार्थे ण्यन्तत्वात् तुष्टेन ।

१९ 'स्त्रैणेन' तथा स्त्रैणेन रागे धवलगाने स्पष्टीकृते के स्मरसहाः शेरते स्म ।

स्त्रीपक्षे सवः प्रसवः पुत्रादिः तेन तुष्टेन । निशि उषितेन रसेन हासवता–[रसहासवता+उषितेन] स्मरणं स्मरः स्मृतिः तां सहन्ते स्मरसहाः पण्डिताः–ज्ञानिनः–चतुराः ।

---

1 मा० ष० स० श्लो० ७३ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

2 मा० ष० स० श्लो० ७४ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

3 मा० ष० स० श्लो० ७५ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

4 मा० ष० स० श्लो० ७६ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

5 मा० ष० स० श्लो० ७७ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया ।

गुरुयशोधवलावलिमङ्गना रसकलामलपल्लवलीलया।
श्रुतिमदादिव तन्ननृते वनैरसकलामलपल्लवलीलया[1] ॥ ८९ ॥ [द्रुतविलम्बितम्]
साचार्यचन्द्रमसि शान्तरसानुयुक्ते ज्येष्ठस्थितेरनु हितं तरसा नु युक्तेः।
धन्येन गौरिति नतैन्द्रगिराविहर्तुं बिभ्रत्यनोदि समयूरगिरा विहर्तुम्[2] ॥ ९० ॥

इति श्रीदेवानन्दे महाकाव्ये दिव्यप्रभापरनाम्नि ऐङ्काराङ्के माघसमस्यार्थे महोपाध्याय-श्रीमेघविजयगणिविरचिते पट्टधरस्थापन–षडृतुवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः।

॥ ॐ ह्रीँ श्रीँ क्लीँ अर्हं ॐ शङ्खेश्वरपार्श्वपरमेश्वराय नमः ॥ ऐँ नमः ॥

अथ समयमवेत्य वन्दनायाः कुरु गुरुराज! महेन पावनं नः।
सफलय सुदृशां मनोरथालीं भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः[3] ॥ १ ॥
इति धनवचसोऽनुमन्तरीशो भुवि कुसुमानि शरा इवाभिपेतुः।
रतिवरयितुरुद्धतस्य यस्य न कुसुमपञ्चकमप्यलं विषोढुम्[4] ॥ २ ॥
व्यरचि रुचिभराश्रितं दुकूलैः पटुतरदूष्यमदूष्यमिभ्यराजा।
ह्रियमिह वरचित्रपुत्रिकाणां न्यदधत विभ्रमसम्पदोऽङ्गनासु[5] ॥ ३ ॥
इह विपणिगृहापणेषु भित्तेः शुचिसिचयास्तरणैः कृते पिधाने।
नवकुतुकदिदृक्षया स्पृशन्त्या भुजलतिका मुहुरस्खलत् तरुण्याः[6] ॥ ४ ॥
निजयुवतिजनांस्तदाऽऽजुहाव महति महे धनजीमहेभ्यसिंहः।
नटनमिव दधौ वदंस्तदीयो ध्वनिमधिकं कलमेखलाकलापः[7] ॥ ५ ॥
परिमिलति जने घने क्षणेऽस्मिन् स्थिततरलोचनयोर्नदेववध्वोः।

---

१ '–अङ्गना' अङ्गना गुरोः यशोधवलानि गीतविशेषाः तेषाम् आवलिम् अलपत्।

२ 'रसकलाम्' मधुराम्।

३ 'लवलीलया' लवली लताभेदः तद्वत् लयः विलासो यस्याः सा। "लयस्तूर्यत्रयीसाम्ये संश्लेषण–विलासयोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ३७०]

४ 'असकला–' अखण्डाः–नवाः, अमलाः निर्मलाः।

५ 'युक्तेः' तरसा बलेन। 'नु' वितर्के।

६ 'गिरौ-इहर्तुम्' इह लोके विहर्तुं हितं योग्यम् ऋतुं बिभ्रति सति नतम् ऐन्द्रं यम् ईदृशो गिरिः पूज्यः तस्मिन्। "गिरिः पूज्यः" अनेकार्थे [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ३९९] धन्येन धनजीनाम्ना इति गौः वाक् अनोदि प्रेरिता। ज्येष्ठस्थितेः चतुर्मासकस्य अनु पश्चात्। 'समयूरगिरा' मयूरयुक्तसरस्वत्या–तत्तुल्येन कामे कान्ते [श्लो० ८७] इत्यादिवत् प्रयोगः। यद्वा मयूरगीः षड्जस्वरः तेन सहितेन–लब्धक्तस्वरवादिना।

७ 'सुदृशाम्' सम्यक्त्वभाजाम्।

८ '–दूष्य–' "दूष्यं वस्त्रे च तद्गृहे च" इति विश्वः [श्लो० २९ य्द्वितीय]

९ 'वरचित्र–' वरचित्रपुत्रिकाणां विभ्रमसंपदः स्त्रीषु ह्रियं न्यदधत।

---

1 मा० ष० स० श्लो० ७८ द्वितीय–चतुर्थौ द्वितीय–चतुर्थतया।

2 मा० ष० स० श्लो० ७९ चतुर्थः चतुर्थतया। माघे 'बिभ्रत्यचोदि' इति पाठभेदः।

3 मा० स० स० श्लो० १ चतुर्थः चतुर्थतया।

4 मा० स० स० श्लो० २ चतुर्थः चतुर्थतया।

5 मा० स० स० श्लो० ३ चतुर्थः चतुर्थतया।

6 मा० स० स० श्लो० ४ चतुर्थः चतुर्थतया।

7 मा० स० स० श्लो० ५ चतुर्थः चतुर्थतया।

भुवि पदमवदद्भिदां [१]विमुञ्चत् स्वरसम[२]सक्तमलक्तकच्छलेन[1] ॥ ६ ॥
सुरयुवतिरिहाव्यदेहि नारि ! कलय विमानसमां रमां स्थलेऽस्मिन् ।
सुकृतभरभवे भुवि[३]र्भवे त्वमनृतगिरं गुणगौरि ! मा कृथा[४] माम्[2] ॥ ७ ॥
अतनुत धनजीप्रिया धनश्रीः प्रणयगिरा निजसङ्गभुक्तिभक्तीः ।
स्मरत न सुदृ[५]शोऽत्त दत्त साधाविति च तथापि [६]सखीषु मेऽभिमानम्[3] ॥ ८ ॥
गुरुरपि विजयप्रभं गणेन्द्रं स्वपदनिवेशित[७]वन्दितं तमूचे ।
चिरमिह मम पट्टधारिलक्ष्मीर्भवति भवत्वसु[८]हृज्जनः स कामः[4] ॥ ९ ॥
प्रतिपदनटनेषु तूर्यनादे प्रणदति काऽपि सखीं यियासुमाह ।
गुरुयुगमयि ! दर्शया[९]ऽऽलि ! पुण्ये भव मम मानिनि ! जीविते दयालुः[5] ॥ १० ॥
प्रमुदितधनजीभ्यदत्तदानैर्नवनेपथ्यविभूषणस्तदार्थी ।
न भवति पतिरित्यनादृतां स्त्रीं किल कथमप्यनुकूलयाञ्चकार[6] ॥ ११ ॥
प्रतिजन[१०]महमूंदिकाप्रदाने पथि निबिडे स्म मिथः स्त्रियौ ब्रुवाते ।
कथमथ मम सङ्गतिः श्रमार्तेः स्तनजघनोद्वहने तवापि चेतः[7] ॥ १२ ॥
इति धृतगुरुवन्दनाद्भुतश्रीरतिशयवान् स्वगुणैस्तदागणेयैः ।
अभिनवगणभृद् द्विधाऽपि [११]मार्गे न्यधित मिमान इवावनिं पदानि[8] ॥ १३ ॥
चिरयसि न समं मयैषि नन्तुं त्वकमपरां तु समीहसेऽस्तु सा ते ।
गुरुयुगमगमत् पुरोऽनुगम्य [१२]प्रियमिति कोपपदेन काऽपि सख्याः[9] ॥ १४ ॥
अथ गुरुयुगलस्य तत्र शाखापुरगमने पथि विस्तृतेऽम्बरेऽन्यत् ।
पुनरपि कृतसंवरं वितत्यै स्थलभुवि कन्दु[१३]कविभ्रमं बभार[10] ॥ १५ ॥

---

१ 'विमुञ्चत्' विमुञ्चत् स्वरसं न्यस्यत् ।

२ 'असक्त–' देवपक्षे भुवि असक्तम्–अलग्नम् । नरपक्षे असक्तं नित्यम् ।

३ 'भुविर्भ–' देवभवे ।

४ 'मा कृथा–' देवावतारे असत्यवाचं मा कृथाः ।

५ 'सुदृशो–' हे सुदृशः । यूयम् अत्त भक्षयत, साधौ दत्त दानम् ।

६ 'मेऽभिमानम्' कुरुत सखीषु मेऽभिमानम् । अजल्पनादिकं मा स्मरत ।

७ 'स्वपद–' पूर्वं स्वपदे निवेशितः पश्चाद् वन्दितः–इति समासः ।

८ '–असुहृज्जनः' सः प्रसिद्धः कामः असुहृदः जना यस्य ईदृग् अस्तु–निष्प्रसरोऽस्तु । यद्वा असुहृत् प्राणहारी–हिंसकः सः 'कामः' के मस्तके आमः रोगः तत्सहितोऽस्तु ।

९ 'आलि !' हे आलि ! अयि-इति संबोधने गुरुयुगं दर्शय पुण्ये धर्मरूपे जीविते दयालुर्भव ।

१० 'प्रतिजन–' जनं जनं प्रति–प्रतिजनं महामुद्रादानैः ।

११ 'मार्गे' लौकिके लोकोत्तरे मार्गे प्रवचने पदानि क्रमन्यासाः सिद्धान्तपदानि वा । 'मिमानः' अवनिमानं प्रत्यक्षतो गणनरीत्या वा ।

१२ 'प्रिय–' प्रियम्–धवम् अनुगम्य ।

१३ 'कन्दुक–' पदन्यासस्थाने एकं वस्त्रं विस्तारितम्–द्वितीयं पुनर्वितत्यै प्रस्तारणाय–कृतसंवरं धृतं तत् कन्दुकवत् रुरुचे ।

---

1 मा० स० स० श्लो० ६ चतुर्थः चतुर्थंतया ।

2 मा० स० स० श्लो० ७ चतुर्थः चतुर्थंतया ।

3 मा० स० स० श्लो० ८ चतुर्थः चतुर्थंतया । माघे 'मेऽभिमानः' ।

4 मा० स० स० श्लो० ९ चतुर्थः चतुर्थंतया । माघे 'सकामः' इति अखण्डम् ।

5 मा० स० स० श्लो० १० चतुर्थः चतुर्थंतया ।

6 मा० स० स० श्लो० ११ चतुर्थः चतुर्थंतया ।

7 मा० स० स० श्लो० १२ चतुर्थः चतुर्थंतया ।

8 मा० स० स० श्लो० १३ चतुर्थः चतुर्थंतया ।

9 मा० स० स० श्लो० १४ चतुर्थः चतुर्थंतया । माघे 'सख्या' इति ।

10 मा० स० स० श्लो० १५ चतुर्थः चतुर्थंतया । माघे '–तटभुवि' इति ।

इह घनजनसङ्कुलप्रदेशे युवतिरनीयत नायकेन नन्तुम् ।
कथमपि पुरतो विगृह्य तस्या मृदुममृदुव्यतिबद्धमेकबाहुम्[1] ॥ १६ ॥
निवसितकुचपार्श्वतः प्रगल्भा व्यनमदुपेत्य जनान्तरेऽपि सूरीन् ।
पथि जनमपसारयन्त्यभीकं[१] कुचमितरं तदुरः[२]स्थले निपीड्य[2] ॥ १७ ॥
अनुगतनवसूरिणा स साकं सकलपुरेषु महोत्सवैर्विहृत्य ।
अहिमदपुरि सूरिरब्द[३]माप्य पदमथ मन्मथमन्थरं[४] जगाम[3] ॥ १८ ॥
स्थितवति च गुरौ पुरेऽत्र दाने तपसि जिनार्चनशीलसन्निधाने ।
व्रतनियमविधौ सधर्म[५]योगात् प्रियमबला सविलासमन्वियाय[4] ॥ १९ ॥
अनुजनकसिपु[६]प्रदानपूर्वमभिनवनन्दिमहैस्तदोपधानम् ।
निशि विनिहितजागरेषु गानैः स्वभुज[७]लताविभवेन काचिदूहे[5] ॥ २० ॥
स्थितिमिह विजयप्रभस्स सूरिर्नगरवरान्तरधत्त वेदमासान् ।
दृढचरणगुणैर्जयन् मुनीशान् विषम[८]वितीर्णपदं बलादिवाऽन्यान्[6] ॥ २१ ॥
दृढचरणगुणैर्दधत् समाज्ञा[९] विषमवितीर्णपदं बलादिवाऽन्याः[१०]

[इति वा पाठान्तरम्—उत्तरार्द्धे]

तपसि जपविधौ क्रियाविवेके शुचिचरणे समये[११] द्विधाऽपि बोधे ।
गुरुमतिशयवांस्तथा स हीरप्रतिमतयाऽनुययावसंशयानः[7] ॥ २२ ॥
पुरनगरवरान्तरालरथ्यागुरुयुगवाक्यरसौघवाहिनीनाम्[१२] ।
सरित इव गतागतैर्वधूनां प्रणदित[१३]हंसकभूषणा विरेजुः[8] ॥ २३ ॥
अधृत रतधृतेर्निवृत्तिवर्म गुरुवचसा बहुशो जनो विजित्य ।

---

१ '–अभीकम्' कामिनम् ।

२ 'तदुरः–' तथैव प्रीतिजननेन मार्गप्राप्तेः–इति आशयः ।

३ '–अब्दम्–' अब्दं मेघं मेघागमम् ।

४ 'मन्मथ–' कामसूचकम् यद्वा मन्मथस्य मन्थं ध्वंसं राति दत्ते तत् । "मन्मथः कामचिन्तायां पुष्प–चाप–कपित्थयोः" इति अनेकार्थः [हैै० अने० सं० कां० ३ श्लो० ३११] "मन्थरः सूचके कोशे मन्दे पृथौ मथि" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० ३ श्लो० ५८३]

५ 'सधर्म–' समानधर्माणां संबन्धात् ।

६ '–कसिपु–' भोजन–वसनप्रदानपूर्वम् ।

७ 'स्वभुज–' स्वभुजोपार्जितधनेन ।

८ 'विषम–' विषमे दुष्करे तपःप्रमुखे वितीर्णं दत्तं कृतं पदं स्थानं व्यवसायो वा यत्र कर्मणि ।

९ 'समाज्ञाः' कीर्तीर्दधानः ।

१० '–अन्याः' असदृशाः–अपूर्वाः "अन्योऽसदृशेतरयोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ३३६]

११ 'समये' समयः सिद्धान्तः कालश्च ।

१२ 'वाहिनी–' वाहिनीपक्षे शब्दितहयघुर्घुरालंकाराः । "ओघः प्रवाहः संघातो द्रुत-नृत्त-परंपराः उपदेशे" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ५२]

१३ '–हंसक–' हंसकं नूपुरम्, पक्षे हंसाः । "हंसोऽर्के मत्सरेऽच्युते । खगाश्वयोगिमन्त्रादिभेदेषु परमात्मनि ॥ निर्लोभ–नृपतौ प्राणवाते श्रेष्ठेऽग्रतः स्थिते" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ५८१–५८२] तथा वधूनां गुरुयुगवाक्ये रसो यस्य स चासौ ओघः सार्थस्तस्य वाहिनीनाम्–गन्त्रीणाम्–गतागतैः ।

---

1 मा० स० स० श्लो० १६ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'व्यतिविद्ध–' इति ।

2 मा० स० स० श्लो० १७ चतुर्थः चतुर्थतया ।

3 मा० स० स० श्लो० १८ चतुर्थः चतुर्थतया ।

4 मा० स० स० श्लो० १९ चतुर्थः चतुर्थतया ।

5 मा० स० स० श्लो० २० चतुर्थः चतुर्थतया ।

6 मा० स० स० श्लो० २१ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'बलादिवाऽन्या' इति । अत्र लिखितादर्शे 'विषमवितीर्णपदंबलाऽदिवा'- इत्येवं पदच्छेदः कृतः । तदनुसारी अर्थो न ज्ञायते ।

7 मा० स० स० श्लो० २२ चतुर्थः चतुर्थतया ।

8 मा० स० स० श्लो० २३ चतुर्थः चतुर्थतया ।

मधुपिकरुतलक्षणात्रिलोकीव्यधपटुमन्मथचापनादशङ्काम्[१] ॥ २४ ॥
गुरुनमनतदुक्तिपानयोगात् नगरजने मुदितेऽन्तरुत्सवेन ।
बहिरपि बहुधान्यभूर्नु[२] नृत्यमतनुत नूतनपल्लवाङ्गुलीभिः[2] ॥ २५ ॥
अथ परमगुरुस्ततो विहृत्य विमलगिरिं समवाप्य सोऽप्यधीशम् ।
कुसुमितवनकैतवात् परागैः समुपहरन् विचकार[३] कोरकाणि[3] ॥ २६ ॥
अलभत सहचारिरायचन्द्रप्रमुखजनोऽपि नृपेश्वरातिथेयीम् ।
प्रतिपदमसकृत् तदुत्तमानामनुगमने खलु सम्पदोऽग्रतस्थाः[4] ॥ २७ ॥
दिवि सुरतरवो ह्रिया बभूवुर्भ्रमरमिषान्मलिनास्तु रायचन्द्रे ।
नृपपुरजनसङ्घभोज्यदानैर्दधति परिस्फुटमर्थतोऽभिधानम्[5] ॥ २८ ॥
मुनिविभुरभिनम्य मारुदेवमतिचरणं पुरतोऽस्य चालुलोच ।
खसमयविधिना ततस्तमः खं प्रसभमनीयत भङ्गमङ्ग ! नाना[6] ॥ २९ ॥
अभिगतसहगामिसङ्घलोकैर्विहितमहं पुरमुन्नतं गतस्य ।
गुरुपदनमने प्रभो रसालः शिरसि मुदेव मुमोच पुष्पवर्षम्[7] ॥ ३० ॥
समयमिह विमृश्य देवसूरिरनशनमुच्चगिरोचचार कल्यः ।
तदवगमनतो जनेन दैवात् विगतदयं खलु खण्डितेन मम्ले[8] ॥ ३१ ॥
दिनमतिविरसं दिशोऽपि धूम्रा जगदपि खिन्नमजन्यजैन्ययोगैः ।
वियति घनरजोऽमिलद् धरोच्चैस्तनलटरोधि तिरोदधेंऽशुकेन[9] ॥ ३२ ॥
अवतरदमराध्वतो विमानं झटिति ददर्श दिशः प्रभासमानम् ।
सुरयुवतियुतं जनालिरुच्चैर्विपुलतरोन्मुखलोचनावलग्नम्[10] ॥ ३३ ॥
त्रिदिवमधिगमेन पावय त्वं मुनिनृप ! भूः प्रतिबोधितेति वाचः ।
त्रिदशमृगदृशोऽवतीर्य नेमुः स्फुटतरलक्ष्यगभीरनाभिमूलाः[11] ॥ ३४ ॥
मधुरतरगिरा जगौ सुरस्त्री व्यतनुत मौक्तिकवर्द्धनानि काचित् ।

---

१ '–शङ्काम्' "शङ्का स्यात् संशये भये" [है० अने० सं० कां० २ श्लो० १७] इत्यपि ।

२ '–नु' वितर्के ।

३ 'विचकार' विकाशयामास ।

४ 'खम्' 'अङ्ग' इति संबोधने । नाना अनेकप्रकारम् खं खकीयम् तमः पापम् भङ्गम् अनीयत ।

५ 'कल्यः' नीरुक्–रोगरहितः ।

६ 'विगतदयम्' यथा स्यात् तथा दैवात् खण्डितेन छिन्नेनेव मम्ले संकुचितम् ।

७ '–अजन्य–' अजन्यः उत्पातः ।

८ 'अंशुकेन' सूर्येण "अंशुः सूत्रादिसूक्ष्मांशे किरणे चण्डदीधितौ" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ५३०]

९ 'अवलग्नम्' उच्चैः अवलग्नम् ।

---

1 मा० स० स० श्लो० २४ चतुर्थः चतुर्थतया ।

2 मा० स० स० श्लो० २५ चतुर्थः चतुर्थतया ।

3 मा० स० स० श्लो० २६ चतुर्थः चतुर्थतया ।

4 मा० स० स० श्लो० २७ चतुर्थः चतुर्थतया ।

5 मा० स० स० श्लो० २८ चतुर्थः चतुर्थतया ।

6 मा० स० स० श्लो० २९ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे '–मङ्गनानाम्' इति ।

7 मा० स० स० श्लो० ३० चतुर्थः चतुर्थतया ।

8 मा० स० स० श्लो० ३१ चतुर्थः चतुर्थतया ।

9 मा० स० स० श्लो० ३२ चतुर्थः चतुर्थतया ।

10 मा० स० स० श्लो० ३३ चतुर्थः चतुर्थतया ।

11 मा० स० स० श्लो० ३४ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे '–नाभिमूला' इति ।

गुरुनिहितदृगाऽऽनतोत्तरीयग्रहणपदं न चिरं विलम्ब्य काचित्[1] ॥ ३५ ॥
अथ किल कथिते सखीभिरत्र क्षणम्[१]अवधूत्य भुविर्निवासिनीभिः ।
गुण-विधु-हय-भू-मिताब्दयोगे (१७१३) स गुरुरधाद् दृढमासनं समाधेः[2] ॥ ३६ ॥
शुचिशुचि[२]भव (११) तिथ्यहर्मुखेऽगात् स्मृतपरमेष्ठिपदः स्वरेष देवः ।
व्यरचि च शिबिका जनेन गुर्वी प्रतिपदसंयमितांशुकावृताङ्गी[3] ॥ ३७ ॥
गुरुवपुषि निवेशितेऽथ तस्यामरुददलं जनता व्रती स्ववक्षः ।
बहलकरुणया[३]ऽलुठद् मुमूर्च्छे किमपि रसेन रसान्तरं भजन्ती[4] ॥ ३८ ॥
अगुरुमलयजार्जुनाभ्रपूर्णज्वलितचितौ तनुमैक्ष्य(?) किं नु[४] जीवन् ।
स्वरयमिति सुरी जगौ प्रसह्य स्फुटमपि भूषयति स्त्रियस्त्रपै[५] व[5] ॥ ३९ ॥
मृगमदघनसारचन्दनाढ्याऽप्यरुणसिचा पिहिता चिताङ्गनेव ।
न कमिह नवमोह[६]माशु निन्ये स्फुटमपि भूषयति स्त्रियस्त्रपैव[6] ॥ ४० ॥
अहह दहति गात्रमत्र वह्नौ ज्वलितमभूद् भुवनं शुचा किमन्यत् ।
अवहितमनसा जनैर्न सूरेः प्रणिदधिरे दयितै[७]रनङ्गलेखा[८]ः[7] ॥ ४१ ॥
कतिपयदिवसैर्विहारमुच्चै रुचिरमचीकरदत्र रायचन्द्रः ।
द्रुतमहनि शुभेऽस्य तेन केतोः कृतभुजमूल[९]मबन्धि मूर्ध्नि माला[8] ॥ ४२ ॥
अथ गुरुविरहार्तमाह सङ्घः समयविदं विजयप्रभाख्यसूरिम् ।
अकमधरय[१०] धीर! तीर्थमन्यैरधिकमधित्व[११]दनेन[१२] मा निपाति[9] ॥ ४३ ॥
पथि पथि सुदृशां[१३] गणो मुखाब्जाद् वचनरसस्य पिपासया त्रिसायम् ।

---

१ 'क्षणम्–' स्वर्वासिसखीभिः उक्ते क्षणम् उत्सवं मत्वा ।

२ 'शुचि–' शुचिः आषाढः तस्य उज्ज्वल–एकादश्याम् ।

३ 'बहलकरुणया' जातरसेन शोकेन रसान्तरं भूमध्यम् ।

४ 'नु' उत्प्रेक्षायाम् । "स्फुटो व्यक्त–प्रफुल्लयोः" अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ९८]

५ '–त्रपै' अहं त्रपै–हे स्त्रियः! अहं लज्जां करवाणि वः युष्मान् प्रसह्य अयं गुरुः किं जीवन् स्वर्गं भूषयति इति सुरी जगौ ।

६ 'नवमोह–' चितापक्षे नवमोहः मूर्च्छा । पक्षे मोहनं वशीकरणम् । अत्र उत्प्रेक्षायां समस्या लाप्या । "त्रपा लज्जा–कुलटयोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० २९१]

७ '–दयितै–' दया करुणा जाता येषां ते तैः ।

८ 'अनङ्गलेखाः' जगत् 'शुचा' शोकेनेव दग्धं जातम् अन्यत् किमुच्यते अनङ्गलेखाः अङ्गाभावसमाचाराः सावधानतया न ध्याताः । "रेखाऽल्पके छद्मनि आभोगोल्लेखयोः" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० २४]

९ '–भुजमूल–' "मूलं पार्श्वाद्ययोरुडौ" [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ४९५] "भुजो बाहौ करे" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० ७२] कृतानि भुजमूलानि करादीनि यत्र तत्–हस्तबिम्बानि लिखितानि इत्यर्थः । विहारस्य मूर्ध्नि तेन रायचन्द्रेण केतोर्ध्वजस्य माला अबन्धि ।

१० 'अधरय' हे धीर । अकम्–दुःखम् अधरय–पराकुरु ।

११ '–अधित्वत्–' त्वयि अधिकृत्य वर्तते–इति अधित्वत् ।

१२ '–अनेन' अनेन दुःखेन अन्यैः कुमतिभिः तीर्थं मा निपाति तीर्थम् ।

१३ 'सुदृशाम्' सम्यक्त्ववताम्, स्त्रीणां वा गणः नववदन–कमलात् रसस्य पिपासया मधुप इव आजिहीते–आयाति ।

---

1 मा० स० स० श्लो० ३५ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे '–ग्रहण-पदेन' इति ।

2 मा० स० स० श्लो० ३६ प्रथमः प्रथमतया ।

3 मा० स० स० श्लो० ३६ चतुर्थः चतुर्थतया ।

4 मा० स० स० श्लो० ३७ चतुर्थः चतुर्थतया ।

5 मा० स० स० श्लो० ३८ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'स्फुटमभिभूषयति' इति । अत्र लिखितादर्शे 'ऐक्ष्य' इति प्रयोगः कथं साधुः ? 'आ+ईक्ष्य–एक्ष्य' स्यात् ।

6 मा० स० स० श्लो० ३८ चतुर्थः चतुर्थतया ।

7 मा० स० स० श्लो० ३९ चतुर्थः चतुर्थतया ।

8 मा० स० स० श्लो० ४० चतुर्थः चतुर्थतया ।

9 मा० स० स० श्लो० ४१ चतुर्थः चतुर्थतया ।

विषयरसम[१]पास्य सम्भृतो[२]ऽसावधरममुं मधुपस्तवाजिहीते[1] ॥ ४४ ॥
रविरिव तदलङ्कुरुष्व सिंहासनमुदयाद्रिमुदीतपुण्यभासा ।
तिमिरमपनय प्रमाददजन्यं भवति हि[३] विक्लवता गुणोऽङ्ग नाना[2] ॥ ४५ ॥
ध्वनति नृपतितूर्यधीरघोषे नटति नटे गुरुपट्टमाश्रयत् सः ।
परमगुरुरतोऽतिमु[४]ज्जनाल्याऽऽग्रहपरया विविदे[५] विदग्धसंख्या[६][3] ॥ ४६ ॥
स्थितवति गुरुपट्टकेऽत्र भट्टारक[७]तरणौ यदभूत् प्रमोदरूपम् ।
हृदि हरिणदृशां तदा प्रनृत्यत्–करवलयस्वनितेन तद् विवव्रे[4] ॥ ४७ ॥
करसरसिजवासमासदत् श्रीः परमगुरोः श्रुतदेवताऽऽश्रयद्[८] गाम् ।
जगति सुभगताऽस्य सर्वतोऽङ्गमकलितचापलदोषमालिलिङ्ग[5] ॥ ४८ ॥
गुरुमतिधृतिकीर्तिभाग्यतेजः–प्रसरमवेक्ष्य मृगीदृशां मुदासीत्[९] ।
हृदि बहिरपि सोन्नतेऽमिताऽऽसामुरसि रसादवतस्तरे स्तनाभ्याम्[6] ॥ ४९ ॥
चतुर इह पुरे व्यतीत्य मासान् विमलगिरिं सह सङ्घमाप सूरिः ।
जनततिरसृजत् स्रजोऽर्चनार्थं न्यपतदथोच्चतरूच्चिचीषयाऽन्या[१०][7] ॥ ५० ॥
प्रभुरपि समहोत्सवं ननाम प्रथमजिनं च तमार्चयत् स सङ्घः ।
शिरसि जिनमिहार्चयायि ! कश्चित् स्वयमिति मुग्धवधूमुदास[११] दोर्भ्याम्[8] ॥ ५१ ॥
युवतिकुलमलं जगाविहानु सघुसृणचन्दनपूजं जिनस्य ।
नटनपटुबटुं स चाहरन्ती त्वरयति रन्तुमहो जनं मनो भूः[१२][9] ॥ ५२ ॥
कतिपयदिवसान्तरे गुरूणां प्रतिवलने पथि भूमिका[१३]ऽपि लघ्वी ।
अनुपदमशनाय सङ्घमुच्चैरभवदमुश्चति वल्लभेऽतिगुर्वी[10] ॥ ५३ ॥
जलधरसमयेऽन्तरे पयोधेः सुविभवमन्दिरबन्दिरे स्थितेऽस्मिन् ।

---

१ 'अपास्य' त्यक्त्वा अमुम्–अधरं हीनं विषयरसम् ।
२ 'संभृतः–' सावधानः ।
३ 'हि' हि निश्चितम् विक्लवता अगुणः दोषः । 'अङ्ग' संबोधने 'नाना' अनेकप्रकारः ।
४ 'अतिमुत्' पट्टस्थाने आग्रहकारिण्या जनश्रेण्या अतिमुत् हर्षः ।
५ 'विविदे' लब्धः "विद लाभे" धातुः ।
६ 'विदग्ध–' विदग्धानां चतुराणां सखीव सखी तया ।
७ 'भट्टारक–' भगेन ज्ञानादिना तारके पृषोदरादित्वात् साधुः ।
८ 'गाम्' वाणीम् ।
९ 'मुद् आसीत्' मुद् हर्षः । सा मुत् हृदि अमिता मानम् अप्राप्ता बहिरपि आसां स्त्रीणाम् उरसि स्तनाभ्यामुन्नते अवतस्तार–विस्तारमाप ।
१० 'अन्या' काचित् जनततिः ।
११ 'उदास' अयि इति आमन्त्रणे इह शिरसि जिनम् अर्चय इति हेतोर्मुग्धवधूं दोर्भ्याम् उदास उच्चैश्चकार ।
१२ 'भूः' मनोरूपा भूः बटुं रन्तुं रमयितुं जनं लोकं त्वरयति स्म । मनश्चित्तम् आहरन्ती मोहयन्ती ।
१३ 'भूमिका–' भूमिका प्रयाणभूः ।

---

1 मा० स० स० श्लो० ४२ चतुर्थः चतुर्थतया ।
2 मा० स० स० श्लो० ४३ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे '–ज्ञनानाम्' इति ।
3 मा० स० स० श्लो० ४४ चतुर्थः चतुर्थतया ।
4 मा० स० स० श्लो० ४५ चतुर्थः चतुर्थतया ।
5 मा० स० स० श्लो० ४६ चतुर्थः चतुर्थतया ।
6 मा० स० स० श्लो० ४७ चतुर्थः चतुर्थतया ।
7 मा० स० स० श्लो० ४८ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे '–व्रतरोच्चिची–' इति ।
8 मा० स० स० श्लो० ४९ चतुर्थः चतुर्थतया ।
9 मा० स० स० श्लो० ५० चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'मनोभूः' ।
10 मा० स० स० श्लो० ५१ चतुर्थः चतुर्थतया ।

सुकृतमिह जनश्चकार तत् किं किमिव न शक्तिहरं स साध्वसानाम्[१][1] ॥ ५४ ॥
नगरमिदमतीव धर्मयोग्यं धननिचितं कनकं त्वमत्र हीरः[२] ।
इति कुरु गुरुराज! वार्षिके[३] द्वे भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः[2] ॥ ५५ ॥
इति गृहिवचसा द्वितीयवर्षा अपि स निनाय गुरुस्तथैव तत्र[४] ।
मृदुवचनसुधारसैर्जनानां चिरपरिपूरितमेव कर्णयुग्मम्[3] ॥ ५६ ॥
अथ गुरुचलने क्रमात् पुरोऽस्याः सकलजनेऽनुगते प्रसूं सुतोऽवक् ।
कृतयुगमगमत् बतोपतापी शठकलिरेव महांस्त्वयाद् यदत्त![५][4] ॥ ५७ ॥
अथ गुरुरगमत् क्रमान्नगर्याः सकलजनानुगतौ पतिं प्रियोचे ।
यदि चलयसि माममा[६] न तन्मे शठ! कलिरेव महांस्त्वयाऽद्य दत्तः[5] ॥ ५८ ॥

[पाठान्तरम्]

वदति जयपदानि भट्टलोके प्रणदति वाद्यगणे प्रभासमायात् ।
गुरुरभिधृततोरणं वधूनां[७] सममसिताम्बुरुहेण[८] चक्षुषा च[6] ॥ ५९ ॥
कृतसुरपुर-जीर्णदुर्ग[९]वर्षः स गुरुरगात् पुरबन्दिरेऽस्य लक्ष्म्या[१०] ।
सुजनपरदृशोः क्रमात् सुधाभिर्द्वयमपि रोषरजोभिरापुपूरे[7] ॥ ६० ॥
सुकृतभरवहैर्महैः स तत्र शरदमतीत्य ययावुपाब्धिकूलम्[११] ।
तदधिगममुदा पुरे रसाली मृदुकुसुमे[१२]ऽनयदाऽहताऽप्यमूर्च्छत्[8] ॥ ६१ ॥
अवसरमिममाप्य शुद्धबुद्धिर्वितरणभोजनपौषधांश्च कुर्वन् ।
इह तपसि पुरो गुरोर्निदध्रे[१३] सपदि हिरण्मयमण्डनं स पत्न्या[9] ॥ ६२ ॥

---

१ 'साध्वसानाम्' भयानां शक्तिहरं सुकृतं किं किं न चकार स जनः ।

२ 'हीरः' नगरं कनकम् त्वं हि-निश्चितम् ईरकः-धर्मस्य प्रेरकः पक्षे त्वं **हीरगुरुः** । [हि+ईरः=हीरः]

३ 'वार्षिके' द्वे पर्युषणे पर्वणी ।

४ 'तत्र' **द्वीपबन्दिरे** ।

५ 'यदत्त' [यद्+अत्त!] हे अत्त! हे मातः! अत्ता मातृवाची तत्संबोधनम् । मातरं पुत्रोऽवक्-हे मातः! यद् यस्मात् हेतोः कृतयुगम् अयात्-गतम्, महान् वृद्धः शठकलिः प्राप्तः "शठो मध्यस्थपुरुषे धूर्ते धत्तूरकेऽपि च" इति अनेकार्थः [है० अने० सं० कां० २ श्लो० १०७]

६ '-अमा' सह । यदि माम् अमा सह न चलयसि तर्हि मे मह्यम् हे शठ! त्वया अद्य कलिरेव दत्तः कलहः क्लेशो वा ।

७ 'वधूनाम्' वधूनां चक्षुषा 'च' इवार्थे असिताम्बुरुहेण समं कृततोरणं **प्रभासनगरम्** । 'चक्षुषा' इति जातौ एकवचनम् ।

८ यद्वा ममो ममत्वम् तेन सह यत् सिताम्बुजं तेन । अमम-निर्मम-इत्यादिवत् प्रयोगः ।

९ '-सुरपुर-' सुरपुरं **देवकपत्तनम्, जीर्णदुर्गम्** तत्र च कृतचतुर्मासः ।

१० 'लक्ष्म्या' शोभया ।

११ '-कूलम्' कूलं **वेलाकूलम्** "सत्यभामा भामा" इति न्यायात् पदैकदेशे पदग्रहः ।

१२ '-सुमे नय-' यद्वा नयदैः न्यायकारकैः अहता अवारिता धावन-वल्गन-नर्तनादिभिः इति शेषः ।

१३ 'निदध्रे' इह नगरे पत्न्या करणभूतया तपसि स कश्चिद् शुद्धबुद्धिः गुरोः पुरो हिरण्मयमण्डनं **गूंहली**ति प्रसिद्धं दधौ ।

---

1 मा० स० स० श्लो० ५२ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'ससाध्वसानाम्' ।

2 मा० स० स० श्लो० ५३ चतुर्थः चतुर्थतया ।

3 मा० स० स० श्लो० ५४ चतुर्थः चतुर्थतया ।

4 मा० स० स० श्लो० ५५ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'शठ! कलिरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः' इति ।

5 मा० स० स० श्लो० ५५ चतुर्थः चतुर्थतया ।

6 मा० स० स० श्लो० ५६ चतुर्थः चतुर्थतया ।

7 मा० स० स० श्लो० ५७ चतुर्थः चतुर्थतया ।

8 मा० स० स० श्लो० ५८ चतुर्थः चतुर्थतया ।

9 मा० स० स० श्लो० ५९ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'सपत्न्याः' इति ।

तदनुजलधिमध्यबन्दिरेऽस्य पुनरपि पर्युषणाद्वयस्य कर्तुः ।
समयमिव विहर्तुमन्यदैष्यो[१](?) भ्रमररुतैरुपकर्णमाचचक्षे[1] ॥ ६३ ॥
सुकृतिकृतघनाग्रहं विहाय द्रुतमपि बन्दिरमीशिता मरुद्वत्[२] ।
विमलगिरिमयाद् जिनाप्तनत्यै न परिचयोऽमलिनात्मनां[३] प्रधानम्[2] ॥ ६४ ॥
दृढपरिचितबन्दिरस्थसङ्घोऽप्यवलत गच्छपतिं प्रणम्य तस्मात् ।
मुकुलितनयनः सबाष्पवृन्दैर्घनमहतामिव पक्ष्मणां भरेण[3] ॥ ६५ ॥
बहुधनसुदृशां गवा घनौघेऽकृत[४] वरपर्युषणां स सूरिरत्र ।
सुरयुवतिभिरभ्यनामि[५] खेदादपगतकुङ्कुमरेणुभिः[६] कपोलैः[4] ॥ ६६ ॥
सुकृतरतिजसूस्त्रिया जिनार्चां[७] गुरुरयमानयति स्म सत्प्रतिष्ठाम् ।
अमहयदबला च ताः पयोजैः करकमलैः पुनरुक्तरक्तभाभिः[5] ॥ ६७ ॥
अथ जिगमिषुरेष गूर्जरत्रां प्रथमजिनं प्रणिपत्य सिद्धशैले ।
पथि हरिणदृशामवन्दि वृन्दैः स्तनयुगलैरितरेतरं[८] निषण्णैः[6] ॥ ६८ ॥
द्रुततरगमनैर्विधाय यात्रां घनजनसङ्गतसूरिसार्थमाप्य ।
कलमनुचलनेष्वगायि वेगं करिकलभोरुभिरूरुभिर्दधानैः[९][7] ॥ ६९ ॥
अभिगतघननागरौघसङ्करथगजवाजिपदातिसान्द्रमार्गम् ।
वनमपि नगरायितं जनानां भृशविनिवेशवशात् परस्परस्य[१०][8] ॥ ७० ॥
अथ नगरमहम्मदादिवादं समुपगते मुनिपेऽद्भुते तरुण्यः ।
स्थिरतरनयनैः शचीत्वमापुश्चिरमपि[११] ताः किमुत प्रयासभाजः[9] ॥ ७१ ॥
अभिनयकरणैर्जनाकुलान्तर्गमनवशाच्च गुरोर्नतेस्त्रिसायम् ।
स्रगपि मृगदृशां मणेरधस्तादथ शतशर्करतां जगाम तासाम्[10] ॥ ७२ ॥
परमगुरुगिरा रतेर्निवृत्तेर्नववयसि ग्रहणे तदा विरेजे ।

---

१ '–इष्यो–' वसन्तः ।

२ 'मरुद्वत्' वायुवत् ।

३ '–अमलिना–' उज्ज्वलमनसाम् । बहुशः कृतयात्रत्वात् परिचिते अनादरः इति न ज्ञेयम् "नवं नवं प्रीतिकरम्" इति न्यायात् ।

४ 'घनौघे–' घनौघनामनगरे । 'गवा' वाचा ।

५ 'सुर–' तत्र देवीभिः प्रणतः ।

६ 'रेणुभिः' दूराद् आगमः खेदेन ज्ञाप्यते तेन कश्मीरजलेपैः कपोलैः उपलक्षिताभिः ।

७ 'जिनार्चां' जसूनामश्राविकया कारितप्रतिमाः प्रतिष्ठां गुरुरानयत् ।

८ 'स्तन–' स्तनयुगलैः कृत्वा अन्योऽन्यं मिलितैः । स्त्रीणामतिबाहुल्यव्यञ्जकमेतत् ।

९ 'ऊरुभिः' वेगं दधानैः अनुचलनेषु कलम् अगायि ।

१० 'परस्पर–' अन्योन्यगाढावस्थानात् ।

११ 'शचीत्व–' अद्भुते चित्रे स्थिरदृग्भिः तरुण्यः शचीत्वम्–इन्द्राणीभावमापुः । 'किमुत' इति वितर्के । 'प्रयासभाजः' संकुलत्वात् श्रमप्राप्ता इव ।

---

1 मा० स० स० श्लो० ६० चतुर्थः चतुर्थतया । लिखितादर्शे 'अन्यदैष्यो–इत्यस्ति परं 'अन्यदा+इष्यो' इत्यनयोः 'अन्यदैष्यो'–इति कथं स्यात् ?

2 मा० स० स० श्लो० ६१ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'परिचयो मलिना–' ।

3 मा० स० स० श्लो० ६२ चतुर्थः चतुर्थतया ।

4 मा० स० स० श्लो० ६३ चतुर्थः चतुर्थतया ।

5 मा० स० स० श्लो० ६४ चतुर्थः चतुर्थतया ।

6 मा० स० स० श्लो० ६५ चतुर्थः चतुर्थतया ।

7 मा० स० स० श्लो० ६६ चतुर्थः चतुर्थतया । माघे 'कलभकरोरुभि–' इति ।

8 मा० स० स० श्लो० ६७ चतुर्थः चतुर्थतया ।

9 मा० स० स० श्लो० ६८ चतुर्थः चतुर्थतया ।

10 मा० स० स० श्लो० ६९ चतुर्थः चतुर्थतया ।

प्रियपितृकुलचैत्यकुम्भरूपं कुचयुगमुज्ज्वलमेव कामिनीनाम्[1] ॥ ७३ ॥
ददति वितरणं यथेष्टमिभ्ये युवतितपोमहमाप्य वाद्यघोषैः ।
तदनुमतिकृतेऽन्ययेशवस्त्रं स्तनपिहितप्रियवक्षसा ललम्बे[2] ॥ ७४ ॥
व्रतमधित जिनार्चनानि तेनेऽभिनवमहैश्च दिदेश दानमिष्टम् ।
उपगुरु जनता न किं सुकृत्यं व्यवृणुत वेल्लितबाहुवल्लरीका[3] ॥ ७५ ॥
नगरमिव महोदयैः स बीबीपुरमपि पर्युषणां पुपाव कुर्वन् ।
स्तुतिमणिविततौ सता ततस्ते तरलतया तरुणेन पस्पृशाते[4] ॥ ७६ ॥

इत्थं जैनप्रवचनमिहोद्भाव्य शङ्खेश्वरस्थं
पार्श्वं नन्तुं तपगणगुरुर्जग्मिवान् सङ्घयुक्तः ।
अध्वक्लान्तेर्नवरसयुजां स्मेरपद्माननानां
खेदापूरो युवतिसरितां व्याप गण्डस्थलानि[5] ॥ ७७ ॥
अनमदभिनतैन्द्रं पार्श्वविश्वाधिनाथम्
स गुरुररुणतेजा मेघलक्ष्मीं प्रभाव्य ।
महयितुमिममिभ्याः स्वं शुचीचक्रुरद्धि-
र्वनविहरणखेदम्लानमम्लानशोभाः[6] ॥ ७८ ॥

॥ इति समस्या संपूर्णा जातः(ता) ॥

इति श्रीमद्देवानन्दे महाकाव्ये दिव्यप्रभापरनाम्नि ऐङ्कारा‍ङ्के माघसमस्यार्थे श्रीतपागच्छे महोपाध्यायश्रीमेघविजयगणिविरचिते श्रीविजयदेवसूरीश्वरनिर्वाणगमन-तत्पट्टप्रभाकरश्रीविजयप्रभसूरीश्वराभ्युदयवर्णननामा सप्तमः सर्गः सम्पूर्णः ॥ [इ]ति श्रेयः ॥ पूर्ण(र्णे) च तस्मिन् ग्रन्थोऽपि सिद्धिमध्यास्त ॥ श्रीरस्तु ॥
॥ कल्याणमस्तु ॥ लेखकपाठकयोः ॥ श्रीः ॥ छ ॥

---

१ 'अन्यया' अन्यया कयाचित् कान्तया तत् तपसः आज्ञायै पतिवस्त्रं गृहीतम् । किंभूतया ? स्तनाभ्यां पिहितं प्रियवक्षो यया आलिङ्गनकारिकया तपसः आज्ञां मह्यं कर्तुं देहि तां विना गन्तुं न युक्तमिति आशयेन ।

२ 'वेल्लित–' जनता किंभूता ? वेल्लिता प्रसारिता बाहुरूपा वल्लरी लता यया सा–धर्मव्यये मुत्कलितहस्ता ।

३ 'ते–' ते द्वे नगरम् बीबीपुरं च स्तवनरत्नमालायां तरलतया मणिभावनया संदर्भिते ग्रथिते तरुणेन नवेन । "तरुणः कुचकुप्ये स्यादेरण्डे यूनि नूतने" इति अनेकार्थः [है० अने० का० सं० कां० ३ श्लो० १९५] "तरलो भास्वरे चले हारमध्यमणौ षिङ्गे" इत्यपि [है० अने० का० सं० कां० ३ श्लो० ६४६] तत्र सता पण्डितेन ।

४ 'मेघलक्ष्मीम्' पक्षे मेघस्य मम लक्ष्मीं कृत्वा वाचकपददानाम् । अन्योऽपि अरुणतेजाः सूर्यः मेघलक्ष्मीं प्रभावयति वर्धयति "आदित्याज्जायते वृष्टिः" इति श्रुतेः ।

५ 'महयितुम्' इत्थं श्रीभगवन्तं महयितुं पूजयितुम् "मह धातुश्चुरादिः" ।

---

1 मा० स० स० श्लो० ७० चतुर्थः चतुर्थतया ।
2 मा० स० स० श्लो० ७१ चतुर्थः चतुर्थतया ।
3 मा० स० स० श्लो० ७२ चतुर्थः चतुर्थतया ।
4 मा० स० स० श्लो० ७३ चतुर्थः चतुर्थतया ।
5 मा० स० स० श्लो० ७४ चतुर्थः चतुर्थतया ।
6 मा० स० स० श्लो० ७५ चतुर्थः चतुर्थतया ।

अथ प्रशस्तिः

जयतु विजयलक्ष्म्या पार्श्वविश्वैकभास्वान् अभिमतसुरशाखी सैष शङ्खेश्वरार्च्यः ।
जयतु विजयदेवश्रीगुरोः पट्टलक्ष्मीप्रभुरिह विजयादिः श्रीप्रभः सूरिशक्रः ॥ ७९ ॥

तत्सेवासक्तचेता अनवरततया प्राप्तलक्ष्मीर्विशिष्य,
शिष्यः श्रीमत्कृपादेर्विजयपदभृतः सत्कवेर्वाचकश्रीः ।
मेघः पद्माप्रसादाद् विशदमतिजुषां श्राव्यकाव्यं चकार,
देवानन्दं सदैन्द्रोज्ज्वलविपुलधिया शोध्यतां शोध्यमत्र ॥ ८० ॥

माघः सान्निध्यकृद् भूयाद् मल्लिनाथैस्तथैक्ष्यताम् ।
हास्येन मम दास्येऽस्मिन् यथाशक्त्युपजीविते ॥ ८१ ॥

नोद्रेकः कवितामदस्य न पुनः स्पर्द्धा न साम्यस्पृहा,
श्रीमन्माघकवेस्तथापि सुगुरोर्मे भक्तिरेव प्रिया ।
तस्यां नित्यरतेः सुतेव सुभगा जज्ञे समस्याऽद्भुता
सेयं शारदचन्द्रिकेव कृतिनां कुर्याद् दृशामुत्सवम् ॥ ८२ ॥

अस्या न मधुरा वाचो नालङ्कारा रसावहाः ।
पूर्वसङ्गतिरेवास्तु सतां पाणिग्रहश्रिये ॥ ८३ ॥

क्वचिद् वक्रोक्तिसाचिव्यमप्यस्या दोषकृन्न हि ।
सौभाग्यवशतो जह्रे यदर्थं कृतिनामपि ॥ ८४ ॥

मुनि-नयना-श्वे-न्दु-मिते (१७२७) वर्षे हर्षेण सादडीनगरे ।
ग्रन्थः पूर्णः समजनि विजयदशम्यामिति श्रेयः ॥ ८५ ॥

शरेन्द्रियाद्रीन्दुमितेऽत्र (१७५५) वर्षे व्यलीलिखत् काव्यमिदं सुशिष्यः ।
श्रीमेरुशब्दाद् विजयज्ञराजां श्रीसुन्दरादिर्विजयाऽभिधानः ॥ १ ॥

युग्मं सम्यग्मङ्गलं सौरमस्मिन् माघेऽवर्णि ज्ञाननित्योदयाय ।
अस्याभ्यासाद् जाड्यनाशात् प्रभावः प्रौढिं धत्तां मेरुवत् श्रीश्च धीराः ॥ १ ॥

एकादशशतश्लोकैः श्लोको लोके समेधताम् । वाचकेऽध्यापके चास्य देयान्नित्यं समेधताम्[2] ॥ २ ॥
गोपालगिरिदुर्गेऽस्य लेखनं लेखनन्दनम्[3] । वाचकैर्मेघविजयैः कृतं सुकृतहेतवे ॥ ३ ॥

॥ इति ग्रन्थप्रशस्तिः ॥ सम्पूर्णा जातः(ता) ॥

॥ इति श्रेयः ॥ श्रीः ॥

---

१ 'इभ्याः' मेघलक्ष्मीम् अद्भिर्जलैः प्रभाव्य वर्धयित्वा स्वम् आत्मानं शुचीचक्रुः–पवित्रं विदधुः–आषाढीचक्रुरिति वा । मेघलक्ष्मीम्–प्रावृषि आषाढे वा मेघोदयम्–ज्ञात्वा श्रीजिनम् अनंसीत् ।

२ 'समेधताम्' सबुद्धिभावम् ।

३ 'लेख–' लेखा देवाः ।

देवानन्दमहाकाव्यान्तर्गतानां विशेषनाम्नां संग्रहः ।